तृतीय अध्याय

आलोच्य नाटकों का भाषा सौंदर्य

तृतीय अध्याय
आलोच्य नाटकों का भाषा सौंदर्य

प्रास्ताविक

आज के नाटकों में एक आत्यंतिक चुभन, प्रभाव, विचार बिंदु आदि का समावेश होता है और आधुनिक नाटक रंगमंचीय भी है। जाहिर है उनकी भाषा प्रभावात्मक होनी चाहिए वैसे "साहित्य रचना में आज भाषा ने जैसा महत्त्व अर्जित कर लिया है वैसा पहले कभी नहीं।"[१] नाटक दृश्य काव्य है, उसका सबसे करीबी संबंध रंगमंच से है और जहाँ तक मेरा विचार है रंगमंच किसी व्यक्ति विशेष की संपत्ति नहीं हो सकता। वह सबका है, सबके लिए, सार्वजनिक है। नाटक निर्वैयक्तिक कला है। उसमें सारा जीवन मौजुद होता है। मौजुदा जीवन की सही अभिव्यक्ति कराने के लिए भाषा एक महत्त्वपूर्ण साधन है, जहाँ तक वह रंगमंच के लिए लिखी जाती है तब उसकी संप्रेषणीयता का सवाल और महत्त्वपूर्ण हो जाता हैं। नाटक सही अर्थ में रंगमंच पर ही खरा उतरता है।

भाषा जीवन के प्रति एक अभिरूचि की परिचायिका भी होती है। राकेश के नाटकों में 'त्रासदी' वह नाट्यरूप है जो अलग-अलग ढंग की भाषा में व्यक्त हुई है। ऐतिहासिक, रोमानी, यथार्थवादी आदि का त्रिकोण इनके नाटकों में उभरा है। भाषा के महत्त्व को समझकर ही इसका अध्ययन करने का प्रयास करने जा रही हूँ।

३.१ नाटक और भाषा

यदि कोई विधा अपने समकालीन परिवेश से आँखें चुराएगी तो वह न तो यथार्थ कहलाएगी और न सजीव बन पाएगी और न वह स्थायी रूप ग्रहण कर मूल्यों को उत्प्रेरित कर सकेगी। फिर नाटक यह विधा इस नियम से कैसे अछूती रह सकती है। वैसे नाटक वह विधा है जो अपार जन समुदाय को एक साथ प्रेरणा देती है, उसके विचारों को परिष्कृत कर देती है। साहित्य की अन्य विधाओं में यह बात अपेक्षाकृत कम सार्थक साबित हुई है। भाषा को ही ले ले तो नाटक की भाषा वक्ता और सहभागी श्रोता की सामाजिक भूमिकाओं की भाषा है। नाटक एक संयुक्त कला है। वह नाटककार के साथ

निर्देशक और अभिनेता की भी होती है। नाटककार के नाटक लिखने से लेकर रंगमंच पर प्रदर्शित होने तक नाटक को गुजरना पड़ता है। आधुनिक हिंदी नाटक की सार्थकता की दिशा की विशेषता यह है कि वह सर्जनात्मक मूल्यों से कटे बिना ही रंगमंच से जुड़ गया और "सबसे बड़ी बात यह हुई कि ऐसी नाट्यभाषा की तलाश शुरू हुई जिसमें बोलचाल के मुहावरें की घुलावट और सहजता भी हो, और साथ ही अनुभव के, स्थितियों के, काव्य को व्यक्त करने योग्य संवेदनशीलता, सूक्ष्मता और तराश भी।.. हिंदी के नाटकसाहित्य की सबसे बड़ी उपलब्धि है, जिसके कारण आज हिंदी के नाटक देश की दूसरी भाषाओं के नाटकों की समकक्ष स्थिति में हैं।" [२] हिंदी नाट्यभाषा के विकास और प्रगति को ध्यान में रखते हुए यहाँ नाटक और नाट्यभाषा का अध्ययन अपेक्षित है। इससे पहले हमें नाट्यभाषा का स्वरूप, नाटक और भाषा का अभिन्न संबंध, नाटक में भाषा का महत्त्व आदि विषयों पर चर्चा करना आवश्यक ही नहीं बल्कि अनिवार्य वस्तु बन जाती है।

नाटक साहित्यिक अभिव्यक्ति की ऐसी विधा है जो केवल साहित्य नहीं, उससे कुछ अधिक और भी है अर्थात नाटक वह विधा है जिसमें सबकुछ प्रदर्शित होता है। ऐसा कोई क्षेत्र नहीं जो उससे अछूता रह सकता है। उसमें ज्ञान, शिल्प, विद्या, कला, योग और कार्य आदि सबकुछ का समावेश हैं। नाटक की रचना प्रक्रिया लेखक द्वारा लिखे जाने पर ही समाप्त नहीं होती, उसका पूर्ण प्रस्फुरण और संप्रेषण रंगमंच पर ही जाकर पूर्ण होता है। फिर भी नाटक एक शाब्दिक कला है। नाटक को विलक्षण विधा कहा जाता है "विलक्षण इसीलिए कि इसमें भाषा के साथ भाषेतर माध्यम की उतनी ही क्षमताओं के साथ जुड़े है और दृश्यत्व इसकी सबसें बड़ी विशेषता है।"[३] माना कि नाटक दृश्य काव्य है और नाटक की भाषा केवल संज्ञा, सर्वनाम क्रियापदोवाली नहीं होती - वह दृश्यता, अभिनय, गति और अन्य रंगीय तत्त्वों से भी जुड़ी होती है। फिर भी भाषा का महत्त्व नाटक में नकारा नहीं जा सकता है। "वस्तुतः मंच पर नाटक के द्वारा जो कुछ भी दृश्य रूप में उभरता,वही भी किसी न किसी तरह शब्द पर अवलंबित होता है।'[४]

नाटक के शिल्प का महत्वपूर्ण उपकरण है भाषा। नाटक में भाषा का सर्वथा अभिनव प्रयोग होता है। वैसे साहित्य मूलत: और अंतत: भाषा की ही निर्मिती, परिणति और अभिव्यक्ति है। ''मानव की सृजन क्षमता अपने अनुभवों और यथार्थके बीच के संबंधों से उद्‌भाषित करने का प्रयत्न भाषा के माध्यम से करती है। फलत: भाषा अर्थ,शब्दशक्ति, अभिव्यंजन क्षमता, ऐतिहासिक, सामाजिक, सांस्कृतिक शक्तियों को आत्मसात करने की अपूर्व योग्यताके कारण एक ऐसा उपकरण है जिसका प्रयोग मानव अपने समस्त अभिप्रायों को संप्रेषित करने में निपुणता से करता है।''[५] यहाँ स्पष्ट है कि भाषा का महत्व साहित्य और मानव जीवन में कितना है। भाषा मानव मे स्वयं के सृजन के लिए और साहित्य के सृजन के लिए अमूल्य देन है जिसे वह स्वयं की अनुभूति से निर्मित करता है। नाटक की भाषा अनेक नाटकीय तत्त्वों के बीच सामंजस्य और प्रतिक्रियाओं के समन्वयन का विशिष्ट माध्यम है।

भाषा मानव के चिंतन को व्यवस्थित रूप देने का एक महत्वपूर्ण और अपरिहार्य माध्यम है और नाटक की भाषा तो अनेक लक्ष्यों एवं दायित्त्वों से नियमित होती है। बाह्यत: सामान्य और सहज लगनेवाली भाषा नाटक के कार्यक्षेत में सक्रिय होकर गतिशील तथा बहुआयामी हो जाती है। नाटक की परिभाषा में गतिशीलता अनिवार्य तत्व है। यह गतिशीलता नाटक में आकस्मिकता द्वंद्वात्मकता, संघर्षशीलता, विरोधात्मकता और प्रदर्शनात्मकता के रूप में प्रकट होती है। दूसरे शब्दों में, 'गति' के इन विविध स्वरूपों और आयामों का उद्‌घाटन कथानक की घटनाओं के नाटकीय संयोजन से निर्मित परिवेश में विकसित एवं विकासशील पात्रों की वाचिक एवं आंगिक क्रियाएं निर्मित करती है। दृश्यात्मकता के आग्रह पर दृश्य विधान, अभिनय, मंचीय प्रसाधन आदि को नाट्यभाषा कहा जाता है। संक्षेप में नाटक की मूल संवेदना को संप्रेषित करने का प्रमुख माध्यम भाषा है और साथ ही साथ बिना गति के कुछ भी संभव नहीं। नाटक के बारे में यही कहा जाना चाहिए गतिशीलता के बिना नाटक की कल्पना अधूरी है।

माना की भाषा अभिव्यक्ति का साधन है मात्र इससे कुछ नहीं होता,वह शरीर भौतिक क्रिया भी है। ''वह चेतना की गहराइयों से जन्म लेती है और शारीरिक अवयवों से व्यक्त होकर अपने

को उजागर करती है।''[६] शारीरिक अवयवों का अभिनय तत्व में प्रमुख महत्व रहता है क्योंकि भाषा अभिनेता के मुख से बाहर निकलती है। जब भी भाषा साहित्यिक प्रयोग में आती है तो अलग प्रकार का वैशिष्ट्य धारण कर लेती है जो उसकी सर्जनात्मकता पर निर्भर करता है। ''उसे न तो शब्दों का समूह कहना ठीक है और न पहले से बना-बनाया कोई निर्धारित ढाँचा । यह सत्य है कि उसका स्थूल बाहरी ढाँचा ऐसा कुछ आभास देता है, किंतु उससे कहीं अधिक महत्वपूर्ण उसका वह आंतरिक रूप होता है जो साहित्यकार के मनोजगत और कथ्य की संरचना पर निर्भर करता है। इसीलिए जब भाषा के बाह्य कलेवर के साथ उसकी आंतरिक प्रकृति साहित्यकार के सर्जनात्मक संकल्प से मेल खाती है तभी उसका सही संस्कार प्रकट होता है।''[७]

हम यह जानते हैं कि नाट्यभाषा प्रमुख रूप से मंच पर संवाद के रूप में बोलने के लिए लिखी जाती है। और नाटक मंच पर कई रूप भी धारण करता है लेकिन नाटक की भाषिक आधारशिला एक नित्य वस्तु है। ''भाषा का वैशिष्ट्य इस बात में है कि वह एक समग्र कलात्मक अनुभव से जुड़कर नाटकीय और रंगीय तत्वों के साथ एकरूप ही नहीं हो जाती वरन् उनका पर्याय भी बन जाती है।''[८] नाटक संयुक्त कला है। नाटककार के नाटक लिखने से लेकर रंगमंच पर प्रदर्शित होने तक नाटक को गुजरना पड़ता है। नाटक की भाषा नाटककार की होती हैं लेकिन बाद में वह निर्देशक,अभिनेता की भी हो जाती है। रंगमंच पर प्रस्तुत करते वक्त श्रोता उसे सुनता है। सहज कहना होगा कि उसमें संप्रेषणीयता होनी चाहिए क्योकि नाटककार जब नाटक लिखता है, तो वह चाहता है कि उसके भाव श्रोता के भाव हो और इसीलिए ''नाटक की भाषा अन्य साहित्यिक विधाओं की तुलना में कुछ अलग संस्कारों से युक्त होने को बाध्य है।''[९]

अन्य किसी विधा में हो या नाटक में प्रत्येक तत्व एक दूसरे से जुड़े होते हैं और इसी आधार पर भाषा भी अनेक तत्वों में समाहित होती है, उन्हीं के बीच निर्मित होती है। नाटक की भाषा को 'नाट्यभाषा' इसीलिए कहा जाता है कि वह अपने में इतर विधाओं की भाषा की अपेक्षा अपना अलग महत्व लिए हुए है। ''नाटकीय भाषा का अर्थ ऐसी भाषा है जो अपने प्रयोग और संप्रेषण व्यापार में

आकस्मिक अथवा अप्रत्यक्षित होती है और श्रोता को आश्चर्य में डाल देती है।''[१०] पर कभी-कभी यह वक्ता और श्रोता में भाषिक व्यापार को भी अवरूध्द भी कर सकती है।

नाटक के पात्र नाटककार की कल्पना से निर्मित होते हैं और नाटककार इन्हीं पात्रों को मंच पर सजीव रूप में प्रस्तुत करता है। यहाँ अभिनेता नाटककार के पात्रों को स्वयं जीवंतता प्रदान करते हैं। यही लगभग नकल होती है नाटककार के कल्पित पात्रों की भाषिक क्रिया की। डा.लक्ष्मीनारायण लाल के मत की पुष्टि करते हुए एस्. एन. अय्यर भाषा में अर्थ और अनुभव के संकेंद्रन की व्याख्या करते हैं - ''नाटक एक सायास, सहेतुक सृजनात्मक प्रयास है जिसमें नाटककार अपनी भाषा की समझ से समकालीन अथवा देशकाल विशेष के सामाजिक जीवन को इस तरह रूपायित करता है कि उसके पाठ्य अथवा प्रदर्शित रूप से पाठक अथवा प्रेक्षक उस जीवन को अपनी धड़कनों में जी सके और यही अनुभव करें कि इस संदर्भ या स्थल विशेष में अर्थ और अनुभव दोनों का संकेंद्रन एक ही बिंदु पर हो गया हैं।''[११] और नाटककार के पात्र या सफल अभिनेता नाटक की भाषा में उससे कहीं अधिक अर्थ भर देता है जितना कि उसके शब्दों का साधारणत: हुआ करता है।

हम अपने दैनिक जीवन में साधारणत: जो बातचीत करते हैं उसका कथन प्राय: बहुत लंबा होता है या छोटा। साहित्य में भाषा की अपनी सीमा होती है। नाटक की बात ले ले तो प्रत्येक कथन उतना ही आवश्यक होना चाहिए जितना उसे होना चाहिए। हमारे जीवन में भी अनिवार्य रूप में बोलचाल की भाषा होती है। जयदेव तनेजा इस दैनिक जीवन की भाषा को 'कच्चा माल' कहते हैं ''जिससे नाटककार समग्र और तीव्र प्रभाव की आवश्यकतानुसार चयन करके नाटकोपयुक्त और पात्रनुकूल व्यवस्थिति, साहित्यिक और नाटकीय भाषा का निर्माण करता है।''[१२] वैसे नाटक की भाषा सामान्य भाषा से अपनी प्रकृति या संरचना में भले ही भिन्न प्रतीत नहीं लगती हो किंतु अपनी अभिव्यक्ति में भिन्न होती है। सामान्य भाषा प्रयोग में व्यक्ति का उच्चारण, उसके बोलने का ढंग आदि अत्याधिक सहज, वैयक्तिक तथा विशिष्ट होते हैं। वही 'कथन' नाटक के आलेख में मंच पर विभिन्न अभिनेताओं द्वारा अनेक रूप ग्रहण कर सकते हैं। जिससे कथन का स्वरूप निखार आता है। संक्षेप में

सामान्य और सहज लगनेवाली भाषा नाटक के कार्यक्षेत्र में आते ही गतिशील और बहुआयामी हो जाती है। उसकी अर्थ संभावनाएं प्रकट होने लगती है। ध्वनिबिंबों के साथ-साथ अर्थ बिंबों की प्रक्रिया भी समानांतर रूप से घटित होती है और यही बात सामान्य दैनंदिन व्यवहार में वक्ता, श्रोता के बीच इस प्रकार की अभिनेयता न तो वांछित है और न अपेक्षित। फिर भी ''इसका यह तात्पर्य नहीं कि दैनिक जीवन की सामान्य भाषा गतिशील और बहुआयामी नहीं होती। सामान्य भाषा में ये गुण होते हैं पर वे अनायास सहज ढंग से मनोवैाानिक कारणों एवं सामाजिक-सांस्कृतिक परिस्थितियों से उद्‌भूत होकर अपने लक्ष्य की सिध्दि कर विरमित हो जाते हैं जब कि नाटक में वे समस्त रचना के तंतुओं में अनुस्यूत होकर भाषा की सृजनधर्मीयता का प्रमाण देते हैं।''[१३]

एक लिखित नाटक को पढ़ना और उसी नाटक को मंच पर देखना एक अलग अनुभव होता है। क्रिया, गति, हावभाव आदि भाषेतर माध्यम इस अलग या भिन्न अनुभव की प्रतीति कराने में सहायक होते है। ''न शब्द के बिना नाटक को लिखा जा सकता है (कुछ अपवाद हो सकते है) न अशाब्दिक माध्यम के।''[१४] क्रिया व्यापार, नाट्यस्थितियाँ और चरित्र मिलकर नाटक का निर्माण करते है। वस्तुत: ये घटना, स्थिति और चरित्र एक दूसरे में समाहित होते भी है और एक दूसरे के सजीव रूप भी बनते हैं। अर्थात कथावस्तु की पात्र से कोई अलग इयत्ता नहीं होती और स्थिति पात्र के जीवन का अंग होती है। संक्षेप में नाट्यस्थिति में चरित्र जो करता है या भाषा अथवा भाषेतर माध्यम से जो कहता है, वहीं पर वास्तविक नाटक तैयार होता है। नाट्यभाषा के लिए भाषेतर माध्यम की आवश्यकता होती है। संदर्भ तत्व स्थिति और भाषिक संरचना को परस्पर जोडता है। यह नाट्यभाषा का आवश्यक तत्व है। वस्तु, चरित्र, स्थिति और संदर्भ नाटककार के लिए साध्य और साधन होते है। ''संदर्भ और स्थिति के परस्पर जुड़ते ही पात्र की पहचान शुरू होती है और उसके साथ ही भाषा और संवाद का एक विशिष्ट रूप भी उभरता है।''[१५]

किसी भी साहित्यिक कृति के अपने घटक तत्व होते हैं। उसमें भाषा एक तरह से कृति का रूप धारण कर लेती है साथ ही साधन रूप भी होती है। वैसे किसी भी कृति के दो स्तर होते है -

साहित्यिक और भाषा की संरचना और हर भाषा की अपनी संरचना होती है। गोविंद चातक कहते हैं, 'यह एक ऐसा पहलू है जो उसे अर्थ प्रदान करता है। इसके मूल में भाषा की अपनी वह व्यवस्था होती है जिसे सामान्यत: उसकी इकाइयों के बीच स्थापित संबंधों की देन कहा जा सकता है।''[१६] संबंधों की यही व्यवस्था शाब्दिक इकाइयों को और उनसे निर्मित होनेवाली व्याकरणिक संरचनाओं को प्रकट करती है। भाषा सर्जनशील होने के कारण उसकी अपनी संरचना वैविध्य से परिपूर्ण होती है। ''नाटक के संदर्भ में यह बात और भी कथनीय है क्योंकि वाग्व्यवहार के बहुत निकट होने के कारण नाट्यभाषा की संरचना में प्रयोगों की असीम संभावनाएं होती है।''[१७]

अंतत: यही कहना होगा भाषिक संरचना नाटक की साहित्यिक संरचना का आधारभूत अंग है। भाषा नाटक का शरीर है। नाटक देखते हुए भाषा का अस्तित्व ध्यान में नहीं आता मगर नाटक का गठन और उसकी भाषिक बुनावट का गहरा संबंध है। नाट्यभाषा वास्तविक जीवन की भाषा है। संप्रेषणीयता के साथ-साथ वह प्रकार्यमूलक भी होती है। कहे और अनकहे शब्दों की भाषा नाट्यभाषा होती है, अन्य विधाओं में आग्रह शब्द-शब्द पर होता है। अनकहे को ध्वनित-व्यंजित करने में नाटककार की कसौटी होती है। नाट्यभाषा पात्रों की आत्मपरक भाषा होती है। जिसकी अपनी पहचान उसके केंद्र में स्थिति प्रथम पुरूष होता है और प्रथम और मध्यम पुरूष के बिना नाटक की कल्पना अधूरी है। नाट्यभाषा संवादों की भाषा है और प्रथम और मध्यम पुरूष की स्थिति 'मैं' या 'तुम' में स्वयं सिध्द है। नाट्यभाषा वक्ता और श्रोता के बीच और निखर आती है। कहना होगा कि नाट्यभाषा अभिनेता द्वारा मंच पर बोलने के लिए ही लिखी जाती हैं। और श्रोता या दर्शक की वह भाषा अपनी बन जाती है।

कुलमिलाकर भाषा-शैली का महत्व नाटक में आवश्यक ही नहीं अनिवार्य होता है। पहले प्राचीन नाटकों में कथावस्तु या चरित्रचरित्र पर ही अधिक बल दिया जाता था। लेकिन आज का नाटककार भाषा के प्रति सचेत है। भाषा और संवादों की भावगत, वस्तुगत और व्याकरणिक संरचना, शब्दों का प्रयोग, शब्दों की व्यवस्था, सांकेतिकता, ल्य नियोजन, अनेकार्थता, गतिशीलता, अर्थों की

विविधता, वक्रता, व्यंजना पर विशेष बल दिया जाने लगा है। द्वंद्व और संघर्ष नाट्यभाषा का एक विशेष पहलू बन गया है। "नाटक की भाषिक और संवादीय संरचना उसकी रूपात्मक संरचना का लक्ष्य और लक्षण दोनों है।"[१८] दृश्य विधान, अभिनय, गति तथा अन्य रंगीय तत्वों से जुड़ी यह भाषा नाटक को पूर्णत: प्रदान करती है फिर भी नाटक एक शाब्दिक माध्यम है क्योंकि शब्दों से परे कुछ भी नहीं होता चाहे भाव और क्रिया जीवन में महत्वपूर्ण हो, पहले शब्द पर कभी-कभी भाव और क्रिया पहले आती हो या बाद में भी। फिर भी शब्द या भाषा के अस्तित्व को ठुकराया नहीं जा सकता।

३.२ नई नाट्यभाषा के निर्माण में राकेश का योगदान

प्रत्येक नाटककार का यही कर्तव्य हो जाता है कि वह समाज के मनोकुल भाषा का निर्माण करे। भाषा के द्वारा समाज की नस को पकड़ ले। आज का नाटककार किसी न किसी समस्या को, उसके निराकरण के साथ या समस्या की गंभीरता को दर्शता है, जिसे शायद हम जान बूझकर या अनजाने में दुर्लक्षित करत देते हैं। नाटककार हमसे ही समस्या का हल माँगने लगता हैं या मजबूर कर देता हैं, उस समस्या पर सोचने-विचारने पर। कभी-कभी ऐसी समस्याएं होती है कि उनका हल ढूँढना किसी के बस की बात नहीं होती। समस्या की गंभीरता को जानने के बावजूद उससे छुटकारा न पाने की विवशता, घुटन मनुष्य को हताश बना जाती है। इन्हीं मानवीय भावनाओं को भाषा का रूप देना, उसको एक प्रकार का साहित्यिक ढाँचा प्रदान करना नाटककार की विशेषता होती है। ऐसी भाषा का निर्माण करना आसान बात नहीं थी और उसको रंगमंचीयता प्रदान करने का प्रयास पहले नहीं के बराबर था। "राकेश ने जब लिखना शुरू किया था, उससे पहले भी छायावाद के कवियों ने इस समस्या को महसूस किया था और उसके समाधान के रूप में हिंदी को एक साहित्यिक ढाँचा प्रदान करने का प्रयास भी किया था। जाहिर है कि भाषा का संस्कार, रोमानी भाव, कोमलकांत पदावली, संस्कृत के चिकने चुपड़े शब्दों, अलंकार और चमत्कार की वृत्ति से ग्रस्त था और इसी तरह हिंदी का वैभव तब संस्कृत की पुनर्जिवित परंपरा पर खड़ा करने का प्रयास किया।"[१९] आधुनिक साहित्यकार कुछ नयापन करने के लिए बाध्य हो गये। राकेश भी इसी साहित्यकारों में एक दीपस्तंभ की तरह उदयमान

हुए। राकेशजी के पहले दो नाटकों में ऐतिहासिकता का आभास होते हुए भी जीवन की जटिल एवं साहसिक अभिव्यक्ति है। इसके पूर्व परंपरा में यह संभव न था।

राकेश के समकालीन नाटककारों ने भी वस्तु कथ्य में भी परिवर्तन करते हुए जीवन की जटिलताओं को प्रस्तुत करने का प्रयास किया और इसके साथ नाट्यभाषा का स्वरूप बदल गया। राकेश की नाट्यभाषा नाटक विधा के लिए एक सार्थक कदम साबित हुई। राकेश की नाट्यभाषा में अनुभव का बदलता हुआ क्षेत्र है जिसमें नाटक विधा और अधिक आधुनिकता की ओर अग्रेसर हुई। एक समय तक प्रसाद की भाषा नाटक पर हावी रही। "विकासक्रम में भी कई नाटककारों को उससे समझौता करना पड़ा, किंतु जगदीशचंद्र माथुर, अश्क और धर्मवीर भारती और मोहन राकेश तक आने-आते उसकीअपनी अस्मिता के लक्षण उभरने लगे।"[२०] विशेष बात यह सामने आयी कि यहाँ नाटकों की भाषा मात्र साहित्यिक न रहकर अनुभव और रंगमंच के अधिक निकट आयी। इसी दिशा में राकेश का स्थान महत्वपूर्ण है।

एक मुख्य बात यह कही जा सकती है कि नाट्यभाषा की बात एक ठोस पदार्थ के रूप में नहीं की जा सकती। प्रत्येक नाटककार अपने समय के अनुसार या बीते समय के आधार पर या आनेवाले समय के आधार पर भी भाषा का निर्माण करता है। प्रत्येक नाटककार की भाषा भी अलग होती है और एक ही नाटककार की भी अपने नाटकों कीभाषाअलग होती है। इसी प्रकार एक युग के नाटक की भाषा दूसरे युग से भिन्न होती है। राकेश के नाटकों में यही बात देखने मिलती है। उन्होंने युग के अनुसार अपने नाटकों की भाषा निर्माण किया है। इनके शुरूआती नाटकों की भाषा में ऐतिहासिक, मिथकता को साथ देखते हुए भी एक विशिष्ट विकासात्मक पहलू नजर आता है और बाद के नाटकों में कई अलग प्रकार की नाट्यभाषा देखने को मिलती है। कह सकते है कि राकेश की भाषा हमको जीवन के निकट लाती है।

राकेश ने अपने नाटकों में साहित्यिक ढाँचे को तोड़कर रंगमंचीय दृश्यतत्व को प्रधानता दी है और साथ ही साथ शब्दों को कम महत्वपूर्ण नहीं माना। उनके नाटकों की अलग भाषाएँ उसका

प्रमाण है। जैसे हर एक कृति के बाद दूसरी कृति की भाषा प्रौढ़ है। समकालीन संवेदना का सीधा साक्षात्कार उनके नाटकों की अपनी अलग देन है। उन्होंने हमेशा अनुकूल नाटकीय शब्दों की तलाश की।

वैसे आज के हम हिंदी पाठक, नवयुवक संशोधक और दर्शक हिंदी नाट्यभाषा के स्वरूप की इस तरह की माँग करते हैं जिसे पुष्पा बंसल का मंतव्य ही पूराकर सकता है। ''हिंदी का शुध्दत्व भी बना रहे और वह आधुनिक मॉडर्न भी बन जाए। न ही वह संस्कृत का आँचल छोड़े न ही उसमें लिपटकर रह जाए। न ही वह अँग्रेजी से कह जाए न ही वह अँग्रेजी के बोझ से दब जाए।''[१] और नाटककार मोहन राकेश इस हमारी माँग को पूरा करते हैं 'आषाढ़ का एक दिन' से लेकर 'आधे-अधूरे' तक और आगे के नाटकों में।

साहित्य मूलत: और अंतत: भाषा की ही निर्मिति है, परिणति और अभिव्यक्ति भी है। फिर आज भाषा का स्थान कहाँ है, इस दिशा की ओर मुड़ने के बजाए इस दिशा की ओर मुड़ना होगा जहाँ नाटककार मोहन राकेश की भाषा की उपलब्धि क्या है। उसमें कितनी संप्रेषणीतय है, कितनी वह जनसमुदाय को प्रेरित करती है और इससे पहले राकेश का नई नाट्यभाषा के निर्माण में उनका अपना क्या योगदान हैं इसकी चर्चा अनिवार्यता धारण कर लेती है।

एक बात बिल्कुल सही है कि जब हम नाटक कोदेखते हैं तो भाषा का अस्तित्व नजर नहीं आता। गोविंद चातक तो अनिवार्यता का सिध्दांत लागू कर जाते हैं - ''एक जागरूक नाटककार का और समीक्षक का ध्यान भाषा से हट जाय, यह संभव नहीं।''[२२] और ठीक भी नहीं क्योंकि नाटक की भाषा ही तो वह महत्वपूर्ण सीढ़ी है, जिसके सहारे नाटक अपनी सफलता की मंजिल पा रहा होता है, शायद वह अप्रत्यक्ष रूप से ही सही। राकेश की नाट्यभाषा को देखकर ऐसा लगता है कि राकेश एक जागरूक नाटककार है जिनका ध्यान भाषा से हटा नहीं। वैसे भाषा का कोई भी रूप हो,बस मन को मोह ले और हिंदी भाषा ऐसी ही भाषा है जो सशक्त है, परिपक्व है। हमारी सांस्कृतिक अपेक्षाओं की पूर्ति करनेवाली यह भाषा है, जिसमें इतनी ताकत है कि वह अन्य भाषाओं को अपने रूप में ढ़ाल सकती है। राकेश ने ऐसी ही भाषा को चुना। भाषा को नाटक का शरीर माना जाता है और यह मानना भी

सही है क्योंकि ''भाषा ही वह अंग है जो अन्य सभी अंगों को व्यंजित करती है।''[२३]

अब मैं यहाँ प्रस्तुत करना चाहूँगी कि राकेश के नाटकों के निर्माण के पहले जो भाषा की जो स्थिति थी उसमें राकेश ने अपने नाटकों का निर्माण करके कैसे आमूलाग्र बदल किया। राकेश के पहले जो नाटक रंगमंच से कटा हुआ था, (सही अर्थों में रंगमंच नाटक को नहीं मिला) राकेश ने उसी पर ध्यान दिया। वास्तव में अपनी मूल प्रकृति की दृष्टि से नाटक संवादामूलक कथा होती है जिसे अभिनेता मंच पर नाट्य-व्यापार के रूप में दर्शक-वर्ग के सामने प्रस्तुत करता है और भाषा मूलत: संवादों के लिए लिखी जाती है।

राकेश का नाट्यलेखन हिंदी रंगमंच की तलाश के रूप में आरंभ हुआ था। उनके स्वयं के शब्दों में ''हिंदी रंगमंच को हिंदी भाषी प्रदेश की सांस्कृतिक पूर्तियों और आकांक्षाओं का प्रतिनिधित्व करना होबा।''[२४] और उनके 'आषाढ़ का एक दिन' और 'लहरों के राजहंस' नाटकों मे इस सांस्कृतिक पूर्ति और आकांक्षाओं का प्रतिनिधित्व हुआ है।

वस्तुत: हिंदी नाट्य-परंपरा का सूत्रपात तो हिंदी भाषा के अपने विकास-क्रम के साथ जुड़ा रहा है फिर भी इसकी निजी पहचान और प्रतिष्ठा भारतेंदु युग में ही स्थापित हुई। भारतेंदुजी ने अपने मौलिक नाटकों में भाषा एवं भाव के स्तर पर अनेक जीवंत नाट्य प्रयोग कर दिखाए। पूरबी पट मिश्रित बनारसी, ठेठ बनारसी, डोम बोली, तत्सम प्रधान संस्कृत शब्दावली, फारसी शब्द प्रधान शैली, अँग्रेजी शब्द मिश्रित हिंदी, ब्रजभाषा आदि भाषाएं उनके नाटकों की प्रमुख देन है। जयशंकर प्रसाद के नाटकों की भाषा हिंदी नाट्य साहित्य और भाषाविकास की दृष्टि से महत्वपूर्ण पड़ाव है। मगर उनके नाटकों की भाषा में काव्यात्मक संस्कृत शब्दावली का परिनिष्ठित प्रयोग अधिक पाया जाता है। जयशंकर प्रसाद और उनके समकालीन नाटककारों की काव्यप्रियता के विरूध्द प्रतिक्रिया स्वरूप 'समस्या' नाटकों का प्रचलन हुआ। लक्ष्मीनारायण मिश्र 'समस्या नाटकों के प्रवर्तक' रहे। नाटक को काव्यात्मक बनाने की अपेक्षा रंगमंचीय काव्य बनाने का उपक्रम शुरू हुआ। यहीं से कथावस्तु में बौध्दिकता प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति और आधुनिक मानव नियति की त्रासदी को व्यक्त करने का प्रयत्न

हुआ है। समस्या नाटकों में रंगमंचीयता की अपेक्षा बौध्दिकता की प्रधानता रही।

स्वाधीनता के पश्चात् महत्वपूर्ण बात यह हुई कि अनेक अभिनव प्रयोग हुए और समसामायिक जीवन और समाज की अनेक प्रकार की समस्याओं और प्रश्नों को उठाया गया। इस युग में नाटक सीधे रंगमंच से जुड़े ही, जीवन को समग्र और यथार्थरूप में देखने एवं पकड़ने की दिशा में भी बढ़े। फलत: नाटक का स्वरूप, उसकी भाषा-शैली एवं शिल्प के अनेक स्तरों की निर्मिती हुई। माथुर के नाटक समस्या नाटक की शुष्क बौध्दिकता और गड़ता को प्रतीकात्मक से स्थानापन्न कर आंतरिक अर्थ की सुषमा से मंडित करने का प्रयास करते है। इस अर्थ में 'कोणार्क' (१९५२) का निर्माण एक पहला सार्थक कदम है। इसमें बीते हुए युग के संदर्भ में समकालीन जीवंत भावस्थिति का अन्वेषण है। इसमें भाषा के एक से अधिक स्तर देखने को मिलते हैं। 'अंधायुग' (१९५५ ई.) का प्रकाशन हिंदी नाटक, उसकी रचना एवं रंगमंच के लिए एक दूसरा महत्वपूर्ण मोड़ है। कथा गायकों की योजना करना और भाषा का एक अलग सशक्त रूप का निर्माण धर्मवीर भारती का इस नाटक में अभिनव प्रयोग हैं।

संक्षेप में राकेश के पहले हिंदी नाटक उसकी भाषा और रंगमंच की प्रस्तुति को लेकर अनेक सफल प्रयास भी हुए, मगर राकेश का अपना नाट्यभाषा का योगदान ही एक अभिनव प्रयोग है। रंगमंच से लेकर नाट्यभाषा का योगदान ही एक अभिनव प्रयोग है। रंगमंच से लेकर नाट्यभाषा की खोज, पात्र, प्रतीक व्यवस्था, कथावस्तु, ध्वनि योजना, संवाद योजना और आदि कई तत्वों की उनकी अनन्य साधारण योजना नाटकों में प्रस्तुत हुई है। भाषा साहित्य को नया स्वरूप प्रदान करने में राकेश ने पीछे मुड़कर नहीं देखा बल्कि नए-नए प्रयोग की अभिव्यक्ति उनकी असाधारण देन हैं।

राकेश का पहला नाटक 'आषाढ़ का एक दिन' (१९५८ ई.) ने साठोत्तरी हिंदी नाटकों को एक नई दिशा, नई दृष्टि और नई भाषा प्रदान की। ''उसमें शब्दों की अपूर्व मितव्ययिता भी है और भाषा में ऐसा नाटकीय काव्य है जो हिंदी नाटक का वयस्क होना सूचित करता है।''[२५] जिसमें संवेदना, गहरी सांकेतिकता, द्वंद्व, संघर्ष, भावुकता, गतिशीलता, नाटकीय चेतना मौजुद है। ''साथ ही उसमें व्यंजता, विडंबना, बिंबपरकता एकाधिक संदर्भों की अनुगुंज को बड़े संयम और नियंत्रण के

साथ संजोगा गया हैं, जिससे पहली बार आधुनिक नाटकीय गद्य का रूप निखर सका है। हिंदी नाटक के विकास की यह ऐसी शर्त और जरूरत थी जिसे पूरा किए बिना किसी महत्वपूर्ण उपलब्धि की ओर बढ़ना कठिन था।''[२६]

सच कहा जाए तो विद्रोह और खोज की निरंतरता से ही राकेश अपने नाटकों की भाषा का रूप विकसित कर चुके हैं। उनकी भाषा के पक्ष के प्रति सतर्कता 'लहरों के राजहंस' में और अधिक विकसित हुई है। साहित्यिक होते हुए भी गहरी नाट्यानुभूति से जन्मी भाषा 'लहरों के राजहंस' की है। इसकी भाषा रंगमंच के और निकट ले जाती है। ''उनकी इस भाषा यात्रा से इतना स्पष्ट है कि रंगमंच की पहली आंतरिक अपेक्षा की खोज उन्हें बराबर रही और उसे वह शब्दों के अंदर ही ढूँढ रहे थे।''[९] नाटक दृश्य और श्रव्य काव्य है। इस नाटक की व्याख्या को राकेश के नाटक सही अर्थ में पकड़ते हैं। दोनों नाटकों की भाषा में कहीं भी औपचारिकता नहीं दिखाई देती। भाषा जैसे स्वयं निर्मित होती रहती है - संक्षेप में शब्द के भीतर से नाटकीयता उत्पन्न होती है, जिससे रंगमंच की दृश्य संभावनाएं विस्तृत होती जाती है। 'लहरों के राजहंस' में आधुनिक मानवमन के 'द्वंद्व' को प्रस्तुत किया है। रोमांटिक वातावरण की सृष्टि इसमें हुई है।

हिंदी के अधिकांश नाटकों में शब्द और क्रिया अलग मिलती है मगर राकेश की शब्द और क्रिया का गहरा संबंध हिंदी नाटक के विकास के लिए अनूठी देन है । यह राकेश के नाट्यभाषा की पहली पहचान कही जा सकती है। 'लहरों के राजहंस' में रंग निर्देश द्वारा मोहन राकेश नेपथ्य विधान, मंच-सज्जा, पात्र परिचय, संवादों में कथा की गति एवं संदर्भ के अनुरूप वाक् अभिव्यक्ति के निर्देश आदि की पहचान कराते हैं। पात्र के आंतरिक संघर्ष, मनोवैज्ञानिक स्थिति और परिस्थिति की नाटकीयता का बोध पाठकों तथा प्रेक्षकों दोनों को सफलतापूर्वक कराते हैं। इस नाटक की भाषा का प्रमुख कार्य है संघर्ष या द्वंद्व के लिए अपेक्षित वातावरण या भूमि की रचना करना, पात्रों की प्रखर आवेगमयी अनुभूति को अभिव्यक्त करना, उनकी मनोदशा का प्रकटीकरण करना। नाटक मूलतः भाषा केंद्रीत कलात्मक कृति होती है। राकेश भाषा को जानने के बजाए जिते हैं इसका प्रमाण है कि उनके पात्र

यही बोली बोलते हैं। ये पात्र भाषा में जिते हैं। जिस तरह 'आषाढ़ का एक दिन' हिंदी नाट्य जगत में तहलका मचा देनेवाला पहला नाटक हैं उसी तरह 'लहरों के राजहंस' के निर्माण से भी तहलका मचा दिया। इसके निर्माण के विशेष में प्रतीक व्यवस्था है। राकेश ऐसी भाषा लिखने में दक्ष है जिसमें अर्थ शब्दों के बीच से उभरता है। यहाँ 'प्रतीक' अपने में से अर्थों को निकालने में सक्षम हैं जो सिर्फ राकेश ने किया है। किसी अन्य नाटककार के पास यह सर्जनशक्ति दिखाई नहीं देती।

राकेशजी अपने समकालीन नाटककारों के पथ-प्रदर्शक हैं इसकी पुष्टि 'आधे-अधूरे' के निर्माण से मिलती है। नाटककार की खोज का सफल परिणाम इसे कहना होगा। नवीनता इसमें यह है कि इसकी भाषा नितांत बोलचाल की घरेलु भाषा है जो एक ठोस कदम है। समकालीन जिंदगी के मुहावरे को स्पष्ट करने के लिए। महानगरीय जीवन में मध्यवर्गीय लोगों के जीवन को यथार्थ रूप में प्रस्तुत करने का पहला श्रेय राकेश को जाता है। इस जीवन से निर्मित हुई परिस्थितियाँ, परिस्थितियों से पीड़ित पात्रों की दशा, उनका जीवन, घुटन, निराशा का वर्णन राकेश की विशेषता है। इसकी भाषा में वह कशिश है जो इन सबको अपने में समेट लेती है। ''कहना न होगा कि इस नाटक की एक अत्यंत महत्वपूर्ण विशेषता इसकी भाषा है। इसमें वह सामर्थ्य है जो समकालीन जीवन के तनाव को पकड़ सके। शब्दों का चयन, उनका क्रम, उनका संयोजन, सबकुछ ऐसा है, जो बहुत संपूर्णता से अभिप्रेत को अभिव्यक्त करता है। लिखित शब्द की यही शक्ति और उच्चरित ध्वनि समूह का यही बल है, जिसके कारण यह नाट्यरचना बंद और खुले, दोनों प्रकार के मंचों पर अपने सम्मोहन बनाये रख सकी।''[२८]

राकेश की मंचीयता के बारे में यही स्पष्ट हो गया है कि उनकी मंचीयता परदों से प्रकाश की ओर बढ़ी है। लयनियोजन भी राकेश की नाट्यभाषा की कसौटी है। रसों का परिपाक राकेश की नाट्यभाषा का उत्कृष्ट नमुना है, रसों का विरोधी घोर परस्पर मिलकर एकाकार होते हैं। 'उन्होंने अपने नाटकों में परंपरागत वस्तुविन्यास का परित्याग कर, घटनाक्रम के स्थान पर सर्जन के सहारे कथानक को गति प्रदान की। सहजता के भीतर दंशपूर्ण संवादों की सृष्टि की और संवेदनाघातों के मध्य बौध्दिक सप्रश्नता का प्रकाश बिखेरा, लेकिन जो सबसे बड़ा किया वह यह कि हिंदी नाटक की

साहित्यिकता को पूरी तरह प्रबुध्द एवं समृध्दचेतना में ढाल दिया।''[२९] कथावस्तु से लेकर आधुनिकता तक भाषा के संबंध में राकेश का उनका अपना चिंतन लगता है। ऐसा चिंतन जो भाषा से जुड़ा भी है और अन्य तत्वों को समाये हुए भी है। प्रत्येक नाटक में तत्व की नयी अभिव्यक्ति उनके चिंतन का, खोज का प्रमाण है। ''हिंदी भाषा की अभिव्यंजनाशक्ति और शब्द सामर्थ्य से, उसकी सीमाओं और विशेषताओं से वह परिचित ही नहीं थे, रचनाकार की दृष्टि से उन्होंने उस पर सोचा-विचारा भी था।''[३०] और उनके नाटक इस बात के प्रमाण है कि हिंदी भाषा जीवित भाषा है क्योंकि वह समस्या से निरंतन जूझती रही है, वह हमेशा संक्रमण की स्थिति में रही है। आज भी भाषा का आंतरिक रूप परिवर्तन उसके ऱ्हास का नहीं बल्कि विकास की बढ़ती हुई सीढ़ियों का संकेत है, दिशा है। राकेश की भाषा दृश्यविधान, अभिनय, गति तथा अन्य रंगीय तत्वों से भरी पूरी है। राकेश की भाषा की विशेषता यह है कि वह, काफी हाशिया छोड़ जाती है। यह बात अन्य नाटककारों में नहीं दिखाई देती। गोविंद चातक तो कहते हैं - ''एक सफल अभिनेता नाटक की भाषा में उससे कहीं अधिक अर्थ भर देता है कि जितना कि उस शब्दों का साधारणत: हुआ करता है।''[३१]

पीछे मुड़कर देखें तो भारतेंदु काल हिंदी का आरंभ काल था भारतेंदु के नाटक कितनी ही परंपराओं को अपने में पचाकर अपने समय में उत्पन्न सामाजिक जीवन का यथार्थ रूप प्रस्तुत करते हैं। उनके समकालीन नाटककारों ने भी यही प्रयास किया किंतु उतने सफल नहीं रहे। प्रसाद के आविर्भाव के साथ हिंदी जगत में एक नया आंदोलन प्रारंभ हुआ। प्रसाद का नाट्यसाहित्य भाषा की दृष्टि से प्रौढ़ है, मगर रंगमंच की संभावनाएं बहुत ही कम। प्रसाद की नाट्यपरंपरा को आगे बढ़ानेवाले नाटककारों में लक्ष्मीनारायण मिश्र का नाम आता है जिन्हें 'समस्या' नाटक का प्रवर्तक माना जाता है। मगर बौध्दिकता से ओतप्रोत नाटकों की रचना में रंगमंचीयता उतनी सार्थक साबित नहीं हुई। फिर भी यथार्थता और सामाजिक समस्याएं उनके नाटकों में चित्रित है। अन्य नाटककारों में हरिकृष्ण प्रेमी, उदयशंकर भट, सेठ गोविंददास आदि ने भी प्रयास किए। किंतु 'कोणार्क' और 'अंधायुग' की उपलब्धि ने हिंदी नाटक और भाषा को नया मोड़ दिया। और सही विकास राकेश के नाटकों से शुरू हुआ। 'मील का पत्थर' कहा जानेवाला 'आधे-अधूरे' उनकी उत्कृष्ट भाषा शैली का नमुना है। भाषा

के उसी स्वाभाविक ताने-बाने को सुरक्षित रखने का श्रेय राकेश को ही जाता है। ''एक रचनाकार का भाषा के प्रति यही रूख, यही दायित्व होना चाहिए।''[३२] एक भी शब्द का बनावटी न होना उसकी सही भाषा की तलाश को सार्थक साबित कर देता है और यही उनकी नाट्यभाषा की सही खोज है जो उन्हें अन्य नाटककारों से कहीं अलग रख देती है। उनका नई नाट्यभाषा के निर्माण में योगदान का सही मुआयना आलोच्य नाटकों का भाषासौंदर्य देखने से ही होगा।

३.३ आलोच्य नाटकों का भाषा-सौंदर्य

प्रत्येक नाटककार का अपने युग के अनुसार अपनी दृष्टि बदलना और साहित्य सृष्टि करना सहज बात है। समकालीन परिवेश के अभाव में साहित्य यथार्थ और जीवंत नहीं बन पाता। वैसे निर्माण, परिवर्तन और नवीनीकरण की प्रक्रिया हम सबको झकझोर देती है फिर साहित्य निर्मिती इससे कैसे अलग रह सकती है। प्रभाव की यह लहर राकेशजी के ऊपर भी लागू होती है। राकेशजी भी ऐसी राह का निर्माण किया। राकेशजी के नाटक राही हैं, राहों के अन्वेषी हैं। अन्य नाटककारों की निर्मिती के लिए प्रेरणा बन चुके हैं।

हमारा जीवन ही नाटक है और नाटक की व्याख्या इसके अतिरिक्त और क्या हो सकती है और जहाँ तक नाटक और भाषा का संबंध है वह अभिन्न है। किसी भी साहित्यिक कृति के अपने घटक तत्व होते हैं। उसमें भाषा ही कृति बन जाती है, किंतु भाषा यहाँ साधनरूप भी बन जाती है, जिससे कृति का साक्षात्कार होता है। भाषा नाटक का शरीर है, वह अन्य सभी अंगों के अर्थों को भी व्यंजित करती है। कृतिकार आवश्यक रूप से भाषा के माध्यम से ही अनुभव करता है। कवि का अनुभव शब्दों के माध्यम से होता है और इसीलिए कविता को 'शब्दों की कला' माना जाता रहा है लेकिन नाटककार के शब्दों में क्रिया (Action) का अनुभव होता है। इसीलिए नाटककार को हमेशा 'नाटकीय भाषा' की खोज रहती है। राकेश ने शब्दातीत अर्थ, मौन की महत्ता, हरकत की भाषा, संवादों के मध्य आनेवाले विराम का नाटकीय भाषा में समावेश किया । उनकी यही मान्यता रही है कि नाटक शब्दों का न होकर शब्दों के बीच होता है।

राकेशजी अपने समकालीन नाटककारों में आधुनिक है। उनके नाटकों की आधुनिकता कई स्तरों की है। कथावस्तु से लेकर नामकरण तक की चर्चा हो चुकी है। अपने समकालीन या पिछले सभी तरह के नाटकों से अपने नाटकों को अलग करने के क्रम में वे अपनी आधुनिकता स्थापित करते है। यह संभव तभी होता है जब परंपरा से संबंधित सारी विशेषताओं को अस्वीकार किया जाए और नई रचनाशक्ति का निर्माण किया जाए। प्रसाद, अश्क, हरिकृष्ण प्रेमी जैसे नाटककारों ने पूरे ढाँचे को राकेशजी ने पूरी तरह अस्वीकार कर दिया। कथ्य, भाषा, नाट्य, शिल्प आदि सभी में उनकी अस्वीकृति स्पष्ट है फिर भी भारतीय संस्कृति की आभा उनके नाटकों में नीहित है। राकेशजी की अद्वितीयता नाटक के लिए नई तकनीक और नई भाषा आविष्कार में है।

३.३.१ आषाढ़ का एक दिन का भाषा-सौंदर्य

हिंदी नाटकीय विकास पथ का एक सशक्त स्तंभ के रूप में 'आषाढ़ का एक दिन' नाटक हमारे सामने आता है। यह नाटक पुरानी परंपरा को साथ लेकर भी अपनी नवीन चेतना को लिए हमारे सामने हाजिर है।

प्रसाद के पश्चात् सबसे अधिक सशक्त नाटककार मोहन राकेश ही है क्योंकि प्रसादजी ने राष्ट्रीय और सांस्कृतिक ऐतिहासिकता को ही अपने नाटकों का उद्देश्य बनाया लेकिन राकेशजी ने अपने नाटकों में इतिहास को सामाजिक लक्ष्यों से युगीन संदर्भ प्रदान किया। 'आषाढ़ का एक दिन' राकेश की प्रथम कृति है जो स्वातंत्र्योत्तर हिंदी नाट्य साहित्य की एक महत्वपूर्ण उपलब्धि है।

भाषा एक ऐसा तत्व है जो नाट्यकृति और रंग प्रस्तुति दोनों के मूल में होता है। 'आषाढ़ का एक दिन' की भाषा इतनी सक्षम है कि दर्शक उसे नाटककार द्वारा रचित होने की बात भूल जाता है। नाटक के आकार के विषय में नाटककार स्वतंत्र नहीं होता। 'आषाढ़ का एक दिन' नाटक उतना ही बड़ा है जितना एक बार में दर्शक ऊबे-उकताये बिना देख सकता है। वास्तव में यह सीमा नाट्य रचना को, उसकी प्रक्रिया को और उसके बाह्य तथा आंतरिक रूप को, मूलतः प्रभावित करती है। नाटक में व्यक्त होने के लिए किसी भी अनुभूति का तीक्ष्ण संपादन सर्वथा आवश्यक होता है। नाटक

में सारी बातें कहना, संभव ही नहीं बल्कि असंभव बात होती है। अनकहे अंगों की व्यंजना करना 'आषाढ़ का एक दिन' के भाषा की महत्वपूर्ण विशेषता है। इसमें वह भाषा है, जो किसी भी अनुभूति के, कथा के, घटना के, भाव के, कथन के या अंशों का चयन लिए हुए सार्थक है।

'आषाढ़ का एक दिन' की कथा ऐसी है जिसे एक साथ एक ही बार में शुरू से अंत तक बिना रूके, बिना पीछे लौटे भी पढ़ा जा सकता है। दूसरे शब्दों में यही कहा जा सकता है कि नाटक में अस्पष्टता, अतिरिक्त घुमाव-फिराव, दुरूहता नहीं है क्योंकि नाटक की भाषा ऐसी है जिसे अभिनेता स्वयं आत्मसात कर सकता है और दर्शक उसे ग्रहण कर सकता है।

नाटक की रचना में साधारणत: कथानक को सबसे महत्वपूर्ण अंग माना जाता है। यह नाटक का प्राण है तो भाषा नाटक का शरीर है। नाटक में कथानक केवल घटनाओं का समूह नहीं होता, बल्कि घटनाओं का ऐसा क्रमबध्द संयोजन होता है जिस में किसी सत्य का उद्‌घाटन होता है, जिसके माध्यम से कथा से संबध्द पात्रों की अनुभूति के स्तर खुलते जाते हैं और दर्शक अपने सच्चे स्वरूप की उपलब्धि करता है। वैसे कथानक की घटनाएं मनमाने ढंग से एकत्र की हुई नहीं होती बल्कि उनका एक निश्चित क्रम होता है। 'आषाढ़ का एक दिन' की घटनाएं एक निश्चित क्रम में घटित होती जाती है। नाटक के पात्र नाटकीय कार्य-व्यापार से इसे निर्धारित करते हैं। 'आषाढ़ का एक दिन' का कथानक आषाढ़ की वर्षा से शुरू होता है और आषाढ़ की वर्षा में ही समाप्त होता है। मगर वर्षा के अनुभव अलग हैं। मल्लिका को यही धारासार वर्षा पहले प्रेमकी बुहार लगती है। अद्‌भुत अनुभव उसे वर्षा का होता है। वह कहती है -''मुझे भीगने का तनिक खेद नहीं। भीगती नहीं तो मैं वंचित रह जाती।''[३३] लेकिन अंत में वर्षा की वायु में वही नमी है, वातावरण की ध्वनियाँ भी वैसी ही है मगर समय अधिक शक्तिशाली है। मल्लिका की बच्ची इसका वर्तमान है और कालिदास उसे छोड़कर चला जाता है। मल्लिका टूटती है। उसका यह अनुभव चोट करनेवाला है। अलग-अलग अनुभवों की, अलग-अलग भावों की भाषा यहाँ प्रस्तुत है।

"नाटक जिस मानव और उसके कार्य कलाप को लेकर चलता है, वह सामाजिक परिवेश में समस्त अंत प्रक्रियाओं और पारस्परिक क्रियाओं-अनुक्रियाओं के बीच जीनेवाला मानव होता है। फलत: नाटककार नाटक के संरचनात्मक और भाषिक ढाँचे के अंदर ही इन्हीं अंत: संबंधों को रूपायित करने का प्रयास करता है।"[३४] 'आषाढ़ का एक दिन' नाट्यकृति बाह्य यथार्थ के प्रत्यंकन में घटनाओं, प्रसंगों, चरित्रों, स्थितियों आदि के अंतर्गुम्फन और उनकी टकराहट तथा परिणतियों से रूपाकार प्राप्त करती है। 'आषाढ़ का एक दिन' में घटनाओं, चरित्रों और स्थितियों के बदलाव से नाटक की परंपरा का बदलता हुआ रूप देखा जा सकता है। भाषा का बदलता हुआ रूप इसमें साफ दिखाई देता है चाहे उसमें संस्कृतनिष्ठ और तत्सम शब्दावली साहित्य क्यों न हो। पहले नाटक की परंपरा में जिज्ञासा, आकस्मिकता और कुतुहल शामिल था मगर 'आषाढ़ का एक दिन' में इसके साथ ही रंगमंच के विकास की ओर सार्थक कदम और रंगमंच की लिए सार्थक भाषा और साथ ही साथ अस्तित्व की यातना और मनोवैज्ञानिक सजगता है।

शब्द की शक्ति असीम है। शब्द उच्चारण के साथ ही हमारे मन, कल्पना और अनुभूति पर प्रभाव डालता है। शब्द तथा वाक्यों की सार्थकता उनके अर्थ में ही है। भाषा में यही महत्वपूर्ण होता है कि शब्द और उनका अर्थ समाज पर प्रभाव डाले। राकेश ऐसी भाषा लिखने में दक्ष है जिसमें अर्थ शब्दों के बीच से उभरता है। अर्थ की इस विवृत्ति में संवादों का शाब्दिक गठन महत्वपूर्ण है। इस नाटक का एक-एक शब्द दर्शक को सोचने-विचारने पर मजबूर करता है। सामाजिक जीवन परिवेश के बदलते हुए रूप को इस नाटक की भाषा में देखा जा सकता है चाहे इसकी पृष्ठभूमि किसी हद तक ऐतिहासिक क्यों न हो, चाहे पात्रों का चुनाव भी ऐतिहासिक हो। वैसे इस नाटक को पूर्ण ऐतिहासिक कहना गलत ही नहीं असंगत प्रतीत होता है। राकेश 'आषाढ़ का एक दिन' के बारे में कहते हैं "यह निर्माण रूढ़िगत अर्थ में इतिहास नहीं है। उस इतिहास की खोज के लिए इतिहास की शोध पुस्तकों की ओर जाना चाहिए।"[३५] वैसे इस 'ऐतिहासिकता' के विवाद की तरह आलोचक वर्ग में काफी समय तक नाटक की भाषा भी विवाद का विषय बनी रही। 'संस्कृतनिष्ठ शब्दावली' इस विवाद का प्रमुख

विषय रहा। माना कि दर्शक हर वर्ग से आता है लेकिन उसमें इतनी समझ है कि वह नाटक का अर्थ समझ ले। इन शब्दों का होना नाटक की पृष्ठभूमि के लिए अनिवार्य है। साहित्यिक होते हुए भी गहरी नाट्यानुभूति से जन्मी इस नाटक की भाषा संवेदनशील है। "पहली बार हिंदी नाटकों की भाषा नाटककार के अतिरिक्त मोह, नाटकीय दृष्टि से निरर्थक शब्दजाल के आग्रह और साहित्यिक कला के लबादे से सहसा मुक्त हुई है। राकेश को प्राय: प्रसाद की परंपरा को आगे बढ़ानेवाला कहा जाता रहा है। उदाहरणार्थ उनकी भाषा काव्यात्मक साहित्यिक भाषा है लेकिन सही मानों में प्रसाद के नाटकों में काव्यात्मकता अलंकारप्रियता नाट्यभाषा को बाँधती हुई लगती है। कहीं कहीं वह नाटक जैसी विधा की भाषा नहीं लगती। राकेश ने साहित्यिक भाषा को नाटक के अनुरूप ढाल लिया है, उसे रंगमंच के निकट ला दिया है। उनके दोनों नाटकों की भाषा केवल इस माने में साहित्यिक है कि एक काल विशेष की पृष्ठभूमि में रखने के कारण अपेक्षित यथार्थ भ्रम की सृष्टि के लिए आवश्यक है।"[३६] भाषा भावों की अभिव्यंजक जरूर है लेकिन साथ ही संस्कृत शब्दों का कहीं प्रयोग सामान्य दर्शक के लिए दुरूह है यह तो मान्य ही करना पड़ता है फिर भी शैली के प्रवाह में इनका अस्तित्व समाप्त-सा लगता है। इसमें प्रयुक्त उपत्यकाएँ, तल्प, आस्तरण, कुंभ, भोज-पत्र, दुग्ध, शर्करा, अस्पृश्य, ग्राम-प्रांतर, उपवेश गृह, दुहिता, गवाक्ष, निर्व्याज, प्रतिहारी, हरिणशावक, स्वस्तिक, अंशुक, धारासार, मसृण, अश्वारोही, विचक्षणता, निष्णात, सखाध्वस आदि शब्द कुछ क्लिष्ट होते हुए भी अनुचित नहीं लगते बल्कि अनुकूल वातावरण का निर्माण करते हैं। जयदेव तनेजा मंतव्य नाटककार की भाषा की कठिनता एवं सरलता को लेकर योग्य प्रतीत होता है - "जो अच्छा नाटककार है उसके पात्र न आसान जबान बोलता है न कठिन। वह केवल वही शब्द बोलता है जो उस स्थिति में उस भाव को व्यक्त करने के लिए बोलना चाहिए। वह शब्द और केवल वही शब्द उस स्थिति का वाहक बन सकता है। अत: मूलत: भाषा भाषा की सरलता या कठिनता का प्रश्न कोई प्रश्न ही नहीं है। प्रत्येक रचनाकार को अपने कथ्य और पात्रों के अनुरूप अपनी भाषा का सृजन करना पड़ता है।"[३७] राकेशजी ने भी कथ्य और पात्रों के अनुरूप ही अपेक्षित यथार्थ भ्रम की सृष्टि के लिए ऐसे ही शब्दों को चुनाव किया है। अगर एकाध शब्द की बाधा भी उत्पन्न हो जाए तो पूरा वाक्य उसकी सहायता करता है। अत: निर्विवाद रूप से यही कहा जा सकता है

कि 'आषाढ़ का एक दिन' की भाषा विवाद का विषय बनने की बजाए सशक्त एवं सरल लगती है। वह सर्वत्र कथ्य एवं पात्रों के अनुकूल है।

वैसे किसी भी नाटककार के लिए प्रत्येक शब्द का, वाक्यांश का, वाक्य का सृजन करना पड़ता है, उसके लिए यह सृजन कलाकृति का सृजन है। नाटककार अपनी भाषा कई स्तरों पर विकसित कर सकता है। यहाँ नाटक की भाषा के दो मुख्य स्तर दिखाई देते है। यह जितना भावना से भीगा हुआ नाटक नजर आता है उतना ही यथार्थ से समझौता करनेवाला नाटक है। ''यह नाटक एक तो उस परिष्कृत शब्दावली की याद दिलाता है जिसकी परंपरा प्रसाद ने डाली और दूसरे उस रोमानी यथार्थ की वाहिका भाषा की जो सहज और विश्वसनीय होने से प्रेषणीयता से मुक्त है। नाटक के प्रारंभिक अंकों में भाषा का तत्सम और परिष्कृत रूप मिलता है तो अंतिम अंक में और खासकर मल्लिका और कालिदास के वार्तालाप में भाषा का यथार्थ रूप मिलता है।''[३८]

नाटक की अनिवार्यता यह होती है कि पात्र जो मूलत: नाटककार की कल्पना से निर्मित होते हैं, वही मंच पर सजीव मानव-व्यक्ति के रूप में दर्शकों के सामने प्रस्तुत हो। इसके लिए पात्रों को भाषा की जरूरत होती है। कालिदास की भाषा में भावुक कवि की स्वप्निल कल्पना झाँकती है साथ ही साथ उसका राजकीय व्यक्तित्व भी नजर आता है। तो उससे जलन रखेनवाले विलोम की भाषा में कालिदास के प्रति एक तीखा व्यंग्य सदा हरा-भरा मिलता है। अंबिका समाज की मान्यताओं के प्रति अधिक सजग है । अपने भावों को वह सीधे सपाट ढंग से व्यक्त करती जाती है। मल्लिका का जीवन तो कोमल भावनाओं से गुजरते वक्त ही जैसे खत्म होता है। लेकिन वह अपने को किसी और के सामने व्यक्त नहीं करती। चरित्रों के अनुरूप ही भाषा का प्रयोग हुआ है। पात्रों के वार्तालाप, उनके एक-एक शब्द हमको सोचने-विचारने पर मजबूर करते है। इस नाटक में राकेशजी ने वार्तालाप और भाषा रूप को इस तरह से सजाया है जिससे पूरा परिवेश सजीव और पात्र साकार दिखाई देते हैं। कालिदास इसका नायक है। राकेशजी के शब्दों में ''हमारी सृजनात्मक शक्तियों का प्रतीक है, नाटक में वह प्रतीक उस अंतर्द्वद्व को संकेतित करने के लिए है जो किसी भी काल में सृजनशील प्रतिभा को आंदोलित करता

है।''[३९] यहाँ हर चित्रित पात्र की भाषा आत्मपरक भाषा है। इनकी शारीरिक क्रिया और भाषा एक साथ ही उभरकर सामने आती है जिसे राकेश की नाट्यभाषा की अलग देन कहा जा सकता है। सभी पात्रों के व्यक्तित्व की अगर बाहरी रूपरेखा भी न होती तो भी उनके संवाद उनके व्यक्तित्व को उजागर करते हैं, उनकी मनस्थिति का पूरा पूरा चित्र ये संवाद प्रकट करते हैं। शब्दसमूह का इसमें महत्वपूर्ण हाथ है जो उनके मुख से निकलते हैं।

प्रथम अंक में कालिदास एक भावुक कवि है साथ ही दृढ़ व्यक्तित्व उसका नजर आता है। कालिदास और दंतुल की टकराहट इसका प्रमाण है। दंतुल का इसमें एक राजपुरूष का और अधिकारी वर्ग का अहंकार दिखाई देता है जैसे -

''कालिदास :इस प्रदेश में हरिणों का आखेट नहीं होता राजपुरूष ! तुम बाहर से आये हो, इसलिए इतना ही पर्याप्त है कि इसके लिए तुम्हें अपराधी न मानें।

(दंतुल फिर व्यंग्यात्मक हँसी हँसता है।)

दंतुल : तो राजपुरूष के अपराध का निर्णय ग्रामवासी करेंगे ! ग्रामीण युवक अपराध और न्याय का शब्दार्थ भी जानते हो?''[४०]

मल्लिका त्याग की मूर्ति है, प्यार को लेकर उसमें अटूट विश्वास है। यहाँ पर शब्दों का ही सारा खेल है जिससे हम पात्रों के करीब जाते हैं। उनकी भावुकता को, यथार्थता को जीते हैं। कालिदास का प्रेरणास्त्रोत बनी हुई मल्लिका कहती है, ''आज जब उनका जीवन कई दिशा ग्रहण कर रहा है, मैं उनके सामने अपने स्वार्थ का उद्घोष नहीं करना चाहती।''[४१] अंबिका जिसका चरित्र मल्लिका की माँ के रूप में स्पष्ट हुआ है जो कहती है, ''माँ का जीवन भावना नहीं कर्म है।''[४२] मोहन राकेश यहाँ सीधे सपाट यथार्थ शब्दों में माँ के कर्म की कहानी प्रस्तुत करते हैं। जीवन की वास्तविकता को प्रस्तुत करनेवाली अंबिका की भाषा यथार्थ है।

रंगिनी संगिनी की बातों से तो चपलता, आधुनिकता, बनावट और सभ्यता के आवरण में छिपा मिथ्या अहंकार छलकता है और यहाँ शब्दों के साथ छन्यात्मक रूप में भी अभिव्यंजित होती है।

बिना शोधकृति की दृष्टि के अध्ययन करना आज के शोध छात्रों पर नाटककार का व्यंग्यपूर्ण तीखा प्रहार है। यहाँ नाटककार का शब्द कौशल महत्वपूर्ण है। अनुस्वार-अनुनासिक कितने अयोग्य राज्य के अधिकारी है इसका अध्ययन हम उनके संवादों से ही कर लेते हैं -

अनुनासिक : वस्त्र अभी गीले है इसलिये उन्हें नहीं हटाना चाहिए।

अनुस्वार : क्यों ?

अनुनासिक : शास्त्रीय प्रमाण ऐसा है।

अनुस्वार : कौनसा प्रमाण है ?

अनुनासिक : यह तो मुझे स्मरण नहीं।''[४३]

यहाँ चमत्कारिकता भी पैदा होती है।

विलोम की भाषा में व्यंग्यात्मकता हरी-भरी मिलती है, जो वाक्चातुर्यपूर्ण व्यंग्यात्मक शब्दों से नाटक में अपना अलग स्थान पा लेता है। जैसे - विलोम : ''अनचाहा अतिथि संभवत: फिर भी कभी आ पहुँचे। तब के लिये भी क्षमता चाहते हुए।''[४४]

विदुषी प्रियंगुमंजरी जिसका दर्प, राजसी व्यक्तित्व, मल्लिका के सामने उसकी आंतरिक निराशा, पराजय, व्यावहारिक कुशलता साथ में घबडाहट द्वंद्व का बड़ी खूबी से नाटककार ने शब्द संयोजन किया है। प्रियंगुमंजरी का दर्प और आंतरिक निराशा दोनों एक साथ यहाँ झलकता है।

''प्रियंगु : किसकी रचनाएँ है ये ?

मल्लिका : कालिदास की ।

(प्रियंगु की भृकुटियाँ कुछ संकुचित हो जाती है।)

प्रियंगु : अब वे मातृगुप्त के नाम से जाने जाते हैं। यहाँ भी उनकी रचनाएँ उपलभ्य है?

मल्लिका : ये प्रतियाँ मैंने उज्जयिनी से आनेवाले व्यावसायियों से प्राप्त की है।

(प्रियंगुमंजरी के ओठें पर हल्की-सी व्यंग्यात्मक स्मित की रेखा प्रकट होती है)''[४५]

मातुल की चाटुकारिता तो उसके हावभाव से ही व्यक्त होती है, जिसे शब्दों का सहारा मिलता है। प्रियंगु और मातुल का वार्तालाप -

"प्रियंगु : आप जाकर विश्राम कीजिये। मैंने पहले ही आपको बहुत थकाया है।

मातुल: मुझे थकाया है ? आपने ?

(फिर चाटुकारिता की हँसी हँसता है।

आप के कारण मैं थकूँगा ? मुझे आप दिन भर पर्वत-शिखर से खाई में और खाई से पर्वत शिखर पर जाने को कहती रहे, मैं तब भी नहीं थकूँगा ...।"[४६]

निक्षेप जो पात्र यहाँ प्रस्तुत हुआ है जिसके मुख से जैसे दार्शनिकता ही प्रस्तुत होती है जिसे राकेश शब्दों में पिरोते हैं -

"निक्षेप : उस कटूता को केवल तुम्ही दूर कर सकती हो मल्लिका। अवसर किसी की प्रतीक्षा नहीं करता। कालिदास यहाँ से नहीं जाते हैं तो राज्य की कोई हानि न होगी। राजकवि का आसन रिक्त नहीं होगा। परंतु कालिदास जो आज है, जीवनभर वही रहेंगे - केवल एक स्थानीय कवि। जो लोग आज 'ऋतुसंहार' की प्रशंसा कर रहे हैं, वे भी कुछ दिनों में उन्हें भूल जायेंगे।"[४७]

कुल मिलाकार भाषा यहाँ पात्रानुकूल है। यहाँ पात्रों की शारीरिक क्रिया और भाषा, भाषा और पात्रों की मनस्थिति का गहरा संबंध देखने को मिलता है। इसको राकेश की नाट्यभाषा की पहली पहचान कहा जा सकता है। शब्दों के अनुरूप क्रिया मिलती है। इसमें कृत्रिमता और जड़ता कहीं नजर नहीं आती। मल्लिका के ग्रंथ उठाने-रखने में, अंबिका का घान मुट्ठी में लेकर छाज में गिराना, मल्लिका का दूध खुले बरतन में उँडेल देना, विलोम का उल्मुक से छूकर दीपक जलाना, अंबिका का आँखों का पानी आँचल से पोंछना, मल्लिका का चिहुँकना, कालिदास का ग्रंथ उठाना-रखना आदि सारी पात्रों की क्रियाओं और भाषा में मेल दिखाई देता है।

'आषाढ़ का एक दिन' की नाट्यकृति और नाट्यभाषा में काव्यात्मक और भावात्मक तरलता छलकती है। मल्लिका जैसी एकनिष्ठ भावात्मक प्रवाह में डूबी प्रेयसी हो और कालिदास जैसा भावुक कवि व्यक्तित्व हो तो नाट्यभाषा में काव्यात्मक अनुभूति होगी ही। यहाँ संकेत, व्यंजना, ध्वनि, दृश्यत्व और शब्द की लयात्मकता आदि में काव्यमय वातावरण है जो नाटक में भरा पड़ा है। ''मगर 'आषाढ़ का एक दिन' में राकेश की नाट्यभाषा प्रसाद की नाट्यभाषा की तरह अलंकारों, प्रतीकों, बिंबों से बोझिल नहीं है। वह नाट्यानुभूति और संयम से उपजी भाषा है जो सिध्द करती है कि गद्य और पद्य की भाषा में बहुत अंतर नहीं है।''[४८] केवल भाषा ही है जिसके कारण मल्लिका और कालिदास के भावात्मक संबंधों पर प्रकाश फैला हुआ है जो आद्यंत बाह्य रोमांटिक दृष्टि उत्पन्न करता है। शब्दों का चुनाव और प्रयोग इतना विश्वसनीय है कि इन दो प्रेमियों के वियोगानुभूति और अंतर्द्वंद्वमयी स्थितियों को उभारने के लिए इससे अच्छी और प्रामाणिक भाषा दूसरी शायद नहीं मिल सकती । जैसे

मल्लिका : द्वार बंद रहने दो। तुम जो बात कर रहे हो करते जाओ।

कालिदास : देख तो लो कौन आया है।

मल्लिका : वर्षा का दिन है, कोई भी हो सकता है। तुम बात करते रहो । वह चला जाएगा।''[४९]

नाटक में जितनी रोमांटिक दृष्टि है उतनी ही यथार्थ। विलोम, कालिदास, अंबिका और मल्लिका के संवादों की भाषा ऐसी ही है। उनके संवादों में यथार्थ अनुभवों का खरापन है। उनसे निकलनेवाला अर्थ मारक है। नाटक में संवादीय संरचना एक कलात्मक अनुभव लगता है जिसमें शब्द की भूमिका महत्वपूर्ण है। ''नाटककार ने पात्रों के भावों के तूफान को संवादों द्वारा उपयुक्त वाणी दी है।''[५०] नाट्यभाषा तो मूलत: संवादों पर ही निर्भर करती है। यूँ कह सकते हैं कि संवाद की आधार-सामग्री भाषा होती है और संवाद भी एक प्रकार से भाषा ही है पर वह वक्ता-श्रोता पर निर्भर करती हैं। 'आषाढ़ का एक दिन' में प्रश्नों की नोक संवादों में पैनी नजर आती है तथा वह अस्त्र की तरह चोट कर जाते हैं। यहाँ कुछ ऐसे संवाद देखने योग्य है -

''मल्लिका : क्या कहते हैं? क्या अधिकार है उन्हें कुछ भी कहने का ?

अंबिका : मैं कब कहती हूँ कि मुझे अधिकार है?

तथा

अंबिका : मैं इस समय कुछ भी नहीं सोचना चाहती।

विलोम : तुम मल्लिका की माँ, इस विषय में सोचना नहीं चाहती ? आश्चर्य है !

अथवा

विलोम : मैं जानना चाहता हूँ कि तुम अभी तक वही कालिदास हो न ?

कालिदास : मैंने तुम्हारा अभिप्राय नहीं समझा।

विलोम : मेरा अभिप्राय है कि तुम अभी तक वही कालिदास हो न जो कल तक थे।''

राकेशजी की भाषा में ऐतिहासिकता भी नजर आती है - ''इस प्रदेश में हरिणों का आखेट नहीं होता राजपुरूष।यथा 'शब्द और अर्थ राजपुरूषों की संपत्ति है, यह जानकर आश्चर्य हुआ।''[५१] साथ ही हम जानते है कि राकेश ने संस्कृत शब्दों का प्रयोग किया है फिर भी कहीं कहीं वाक्य रचना पर भी संस्कृत का प्रभाव दिखाई देता है जैसे ''और वह धुरीहीन चक्र के तरह मेरे पीछे चला आया है।''[५२] साथ ही राकेशजी पर अँग्रेजी गद्य शैली का प्रभाव दिखाई देता है - प्रथम अंक में अंबिका : मैं आशा करती हूँ कि अब यहाँ किसी और का आतिथ्य नहीं होना है।'' द्वितीय अंक में मातुल का कथन - ''तो वह दृष्टि कृपया रहने दीजिए। देवी प्रियंगुमंजरी बाहर पहुँच गयी है।'' मल्लिका का तीसरे अंक में - ''यहा मेरा वर्तमान है।'' कालिदास, ''किंतु वह कल कभी नहीं आया।

'आषाढ़ का एक दिन' की भाषा जनभाषा के अधिक निकट है चाहे नाटककार पर संस्कृत शब्दों का प्रभाव ही क्यों न हो। इसमें साहित्यिकता की कैंचुल उतारने का पहला सार्थक प्रयास दिखाई देता है - ''माँ आज तक जीवन जिस किसी तरह बीता ही है। आगे बीत जायेगा। आज जब उनका जीवन नयी दिशा ग्रहण कर रहा है, मै उनके सामने अपने स्वार्थ का उद्‌घोष नहीं करना चाहती।''[५३]

नाट्यभाषा की एक आवश्यक शर्त यह भी है कि वह रंगमंचीय होती है और इस शर्त पर 'आषाढ़ का एक दिन' का रंगमंच खरा उतरता है। इसकी भाषा ने पात्रों के क्रिया-व्यापार, मति,

हावभाव और जीवन छबियों के साथ जुड़कर एक ऐसा रंगरूप धारण कर लिया है जिसे एक प्रेक्षक, पाठक एक साथ देखे, सुने और अनुभूत भी कर सकते हैं। हाव-भाव या शारीरिक चेष्टाएँ भाषा का दृश्य रूप होती है। आंगिक अभिनय का इसमें महत्वपूर्ण हाथ होता है। वाचिक अभिनय तो नाट्यभाषा की अनिवार्य शर्त है -

''कालिदास : इसका अर्थ है मैं तुमसे विदा लूँ? (मल्लिका जैसे चिहुँक उठती है।)

मल्लिका : नहीं विदा नहीं दूँगी। जा रहे हो, इसलिए केवल प्रार्थना करूँगी कि तुम्हारा पथ प्रशस्त हो, जाओ। (कालिदास क्षणभर आँखें मूँदे रहता है। फिर झटके से चला जाता है। मल्लिका हाथों में मुँह छिपाये आसन पर जा बैठती है। तीव्र मेघ गर्जन सुनाई देता है और साथ वर्षा का शब्द सुनाई देता है। मल्लिका अपने को रोकने का प्रयत्न करती हुई भी सिसक उठती है..।)''[५४]

अपना सबकुछ खो देने का अहसास मल्लिका के रोने के हाव-भाव में व्यक्त हुआ है जिसमें मेघ गर्जन और वर्षा की ध्वनि उसमें अपना साथ देते हैं। यहाँ शब्द और हावभाव मिलकर सारी स्थिति की पहचान करा जाते हैं।

मंच पर प्रस्तुत न हो सकनेवाली वस्तुओं या क्रियाकलापों को द्योतित करने के लिए राकेशजी ने ध्वनि का प्रयोग किया है जिसमें सांकेतिकता गहरी है। यथा -

''कालिदास : मैंने कहा था मैं अथ से आरंभ करना चाहता हूँ। यह संभवत: इच्छा का समय के साथ द्वंद्व। परंतु देख रहा हूँ कि समय अधिक शक्तिशाली है क्योंकि ... ।

मल्लिका : क्योंकि ... ? (फिर अंदर से बच्चे के रोने का शब्द सुनाई देता है। मल्लिका ससाध्वस अंदर चली जाती है। कालिदास ग्रंथ आसन पर रखना हुआ जैसे अपने को उत्तर देता है।)

कालिदास : क्योंकि वह प्रतीक्षा नहीं करता । (बिजली चमकती है और मेघ गर्जन सुनाई देता है।)''[५५]

बच्चे के रोने की आवाज और मेघ का गर्जन मल्लिका और कालिदास के आपसी संबंध को व्यक्त करते हैं। यहाँ नाट्य-व्यापार चलता है और ध्वनियाँ परिवेश-बोध को अधिक गहराती है। मेघ और वर्षा नाटक में दो अर्थों को प्रयुक्त होते है। पहले अर्थ में ये दोनो मल्लिका के सुख की आशा करते है दुसरे अर्थ में इतने गहरे दुख की बादल बनते हैं कि हटते ही नहीं। 'आषाढ़ का एक दिन' नाटकीय शब्द मात्र ध्वनि नहीं है वह एक साथ मंच पर दृश्य, बिंब, भावना, विचार और कल्पना को उत्तेजित करते जाते हैं।

ल्यनियोजन काव्य नाटकों का गुण है और जहाँ तक 'आषाढ़ का एक दिन' का प्रश्न है उसमें काव्यात्मकता भी है। यहाँ शब्दों की आवृत्ति से जो ल्य मिलती है उसमें वक्ता के मनोभाव का परिचय मिलता है। साथ ही इसका प्रयोग यथार्थ को कुरेदने के लिए भी किया है। ल्य नियोजन राकेश की भाषा की अपने कसौटी है क्योंकि इसके नाटकीय प्रयोग नाटक में भरे पड़े है। ऐसा लगता है कि नाटककार ने शब्दों के सर्जनात्मक प्रयोग से उन संदर्भों की ल्य में नई-नई ल्य को खोजा हैं जिसे खोजने का प्रयास किसी अन्य नाटककार ने नहीं किया। नाटककार के ''यही शब्द ऐतिहासिक संगति या व्याकरण - विश्लेषित अर्थ से परे अन्य सुंदर अर्थों की गूँज पैदा कर सकने में समर्थ हो जाता है और तभी शब्द ही पूरे रंगमंच की धूरी हो जाता है - अपने में संपूर्ण तत्व।''[५६]

एक एक शब्द के सहारे अर्थ विशिष्टता पैदा करने में राकेश ने कहीं कसर नहीं छोड़ी।

मल्लिका : क्या बात है माँ ? इस तरह चुप क्यों हो?

अंबिका : देख रही हो, मैं काम कर रही हूँ।

मल्लिका : काम तो तुम हर समय करती हो माँ । परंतु हर समय इस तरह चुप नहीं रहती। मैं तुम्हें काम नहीं करने दूँगी। ... मुझसे बात करो।''[५७]

मल्लिका की उत्तेजना में अंबिका की निराशा झलकती हैं जिसमें एक ल्य पैदा हुई है और भिन्न कार्य में प्रकटीकरण हुआ है।

दूसरे उदाहरण में -

''अंबिका : जाने क्या कर रहे है? ... कभी वर्षों में ये आकृतियाँ यहाँ दिखाई देती है और जब भी दिखाई देती है, कोई अनिष्ट होता है। कभी युध्द की सूचना आती है, कभी महामारी की। (लंबी सास लेती है।) पिछली महामारी में जब तुम्हारे पिता की मृत्यु हुई तब मैंने यह आकृतियाँ यहाँ देखी थी।''[५८]

ल्यनियोजन में संकेत और ध्वनि का विशेष महत्व होता है। घोड़े के टापों की आवाज भी इसी संदर्भ में हुआ है। ये दोनों शब्द नाटक में अनिष्टता की ओर संकेत करते हैं और जैसे अपना जादू भी दिखाते है। 'आकृतियाँ' शब्द जैसे पूरे नाटक पर छा जाता है। अन्य उदाहरण मे तो अर्थ संसर्ग पूरी तरह से शर्त पर उतरता है -

''अंबिका : कैसी विचक्षणता है ।

निक्षेप : विचक्षणता ?

अंबिका : विचक्षणता ही तो है।

निक्षेप : इसमें विचक्षता क्या है, अंबिका ?

अंबिका : राज्य कवि सम्मान करना चाहता है। कवि सम्मान के प्रति उदासीन जगदंबा के मंदिर में साधनानिरत है। राज्यके प्रतिनिधि मंदिर में जाकर कवि की अभ्यर्थना करते है। कवि धीरे-धीरे आँखें खोलता है। ... इतना बड़ा नाटक खेलना विचक्षणता नहीं है?''[५९]

वैसे विचक्षणता शब्द यहाँ विचित्र लगता है, फिर भी यह स्थिति की माँग है। निक्षेप जब इस शब्द को दोहराता है तो उसका कौतुहल, आश्चर्य हमें दिखाई देता है लेकिन अंबिका का उसमें कालिदास के प्रति पूरा मनोभाव व्यक्त होता है साथ ही उसकी सारी मानसिक स्थिति। इस वाक्यों में 'ध्वन्यात्मकता' ज्यादा है जो ल्य की विशेषता है।

मेघ, वर्षा, भीगना, गीले वस्त्र, अँधेरा, दूध, भावना, अतिथि, अधिकार, अपकद, संपत्ति, असाधारण, सूत्र, भूमि, आकृतियाँ, हरिणशावक, वातावरण आदि शब्द नाटक में उद्दिष्ट के रूप में आये है। ये पात्रों के मनस्थिति के वाहक हैं। साथ ही अलग-अलग संकेतों के रूप में प्रयुक्त हुए है। ये शब्द केवल अपने में पुनरावृत्ति नहीं है। विभिन्न विशेषणों के साथ अर्थ की विभिन्न छवियाँ प्रस्तुत करते हैं। ऐसे कितने ही शब्द नाटक में है जो एक विशिष्ट लय पैदा करते हैं। बहुत ही सामान्य ये शब्द है ये मगर ऐसे शब्दों से राकेश अनुपस्थित अर्थतत्व को व्यंजित करने की क्षमता रखते हैं।

एक अन्य उदाहरण में लय की सार्थकता दिखाई देती है। इसमें कडुवाहट है, तीखा व्यंग्य है। टकराव है दो व्यक्तित्वों जिसमें वह शब्द एक की जिंदगी बनने जा रहा है और दूसरे के लिए वह शब्द कुछ भी नहीं, सिर्फ एक निरर्थक बात ।

''कालिदास : कहो आजकल किसी नए छंद का अभ्यास कर रहे हो?

विलोम : छंदों का अभ्यास मेरी वृत्ति नहीं है।

कालिदास : मैं जानता हूँ तुम्हारी वृत्ति दूसरी है ... इस वृत्ति ने संभवत: छंदों का अभ्यास सर्वथा छुड़ा दिया है।

विलोम : आज निस्संदेह तुम छंदो के अभ्यास पर गर्व कर सकते हो।''[६०]

राकेश के शब्द केवल संवेदना के तंतु ही बुनते बल्कि अर्थ के नए संदर्भों को उजागर करते है अर्थात् राकेश ने उचित शब्द चुने ही नहीं बल्कि उनमें पूरी अर्थवत्ता दी है। ये सारे शब्द, संकेत, ध्वनियाँ प्राचीन का संदर्भ लेकर भी आधुनिक संदर्भ में प्रस्तुत हुए है। संक्षेप में पात्र की जबान पर आते ही वे अर्थ के कई स्तर बोलते है।

नाट्यभाषा में व्याकरण से अशुध्द, अस्पष्ट और अपूर्ण वाक्य भी अपने लक्ष्य में सार्थक होते हैं। और दूसरी दृष्टि से विचार करें तो भाषा की व्याकरणिक कोटियाँ भी कम महत्वपूर्ण नहीं होती। 'आषाढ़ का एक दिन' में व्याकरणिक संरचना भी प्रस्तुत हुई है। संज्ञा, सर्वनाम, विशेषण, लिंग, वचन, कारक, क्रिया आदि सभी का प्रयोग हुआ है। सामान्यत: जितने प्रकार के व्यक्ति होते है उतने

प्रकार के वाक्य होते है और राकेशजी लगभग वाक्यों के सभी प्रकार प्रस्तुत किए हैं।

सामान्य रूप से नाटक में कई संक्षिप्त वाक्य भी है जो जीवन के अत्याधिक निकट लगते हैं- ''तुम बोलती क्यों नहीं माँ?''[६१] ''मन चाहता है तुम्हें दूध से नहला दूँ।''[६२], ''तुम चुप क्यों हो माँ?''[६३], ''लो और पढ़ो मेघदूत, इसी में न तुम कहती थी कि उसके हृदय की कोमलता साकार होउठी है।''[६४], ''माँ का जीवन भावना नहीं, कर्म है।''[६५] इन संवादों को अलग-अलग पंक्तियों में।

इसके अतिरिक्त नाटक में पर्याप्त व्यंग्यात्मकता भी भरी पड़ी मिलती है। प्रमुख रूप से अंबिका और विलोम में। अंबिका अपनी पुत्री के व्यवहार से निराश है साथ ही दुखी भी है क्योंकि उसकी पुत्री जीवन की वास्तविकताओं को समझ नहीं पाती। अंबिका अपनी घुटन को इन वाक्यों में व्यक्त करती है -

१. ''मैं जानती हूँ तुम पर आज अपना अधिकार भी नहीं है।''[६६]

२. ''लो और पढ़ो मेघदूत, इसी में न तुम कहती थी कि उसके हृदय की कोमलता साकार हो उठी है। आज उस कोमलता का और भी साकार रूप देख लिया?''[६७]

लक्षणा और व्यंजना का एक साथ प्रयोग देखने को मिलता है जिससे भाषा और निखर उठी है - अंबिका कहती है - ''तो तुम भी जाकर कुछ पत्थर बटोर लाओं, कहीं ऐसा न हो कि राज्य के कर्मचारी सब के सब बटोर ले और कल तुम्हारी भावना के लिए यहाँ कोई आधार न बचे।''[६८] विलोम का कथन, ''मल्लिका कभी मधु की आवश्यकता पड़ ही जाए तो संकोच नहीं करना।'' तृतीय अंक में कालिदास का लौटना और द्वार पर दस्तक होना। कालिदास का कहना - देख तो लो द्वार पर कौन हैं? इसी पुनरावृत्ति में मल्लिका कहती है - ''मैंने कहा न कोई भी हो सकता हैं। वर्षा के दिन जिस किसी को आश्रय की आवश्यकता हो सकती है।''[६९]

'आषाढ़ का एक दिन' की भाषा में जो प्रौढ़ता और आकर्षण है उसकी पुष्टि लक्षणा एवं व्यंजना के प्रयोग से हुई हैं। कालिदास का प्रथम अंक में वक्तव्य - ''मैं कई सुनो में उस 'भूमि' से जुड़ा हूँ। उन 'सुत्रों' में तुम हो, यह आकाश हैं, ये मेघ है, यहाँ की हरियाली है, हरिणों के बच्चे है, पशुपाल

हैं। यहाँ से जाकर मैं अपनी भूमि से उखड़ जाऊँगा।''[७०] कहीं कहीं लाक्षणिक वक्रता भी नजर आती है - ''अवसर किसी की प्रतीक्षा नहीं करता।''[७१] मातुल का यह कथन, 'मैं राजकीय मुद्राओं से क्रीत होने के लिए नहीं हूँ। ऐसे कहा जैसे राजकीय मुद्राएं आपके विरह में घुली जा रही हूँ।''[७२] लक्षणापुष्ट व्यंजना भी यहाँ देखने को मिलती है - ''इन कोरे पृष्ठों पर अब बहुत कुछ लिखा है। ...पृष्ठ अब कोरे कहाँ है मल्लिका ? इन पर एक महाकाव्य की रचना हो चुकी है ... अनंत सर्गोंवाले महाकाव्य की।''[७३] विलोम की भाषा भी व्यंग्यात्मक है। इसमें व्यंजना का प्रचुर मात्रा में प्रयोग मिलता हैं।

इस नाटक की भाषा में मुहावरों, लोकोक्तियों और सूक्तियों का परिपाक हुआ है जिसका बोलचाल या जनभाषा से संबंध होता है। तिल-तिल कर गलना, तीसरा नेत्र खुलना, आँखें गीली होना, शरीर निचुड़ने लगना, ओंठ फड़फड़ाने लगना, स्वयं पर अपना अधिकार न रहना और अपवाद फैलाना आदि मुहावरों के प्रयोग से भाषा यथार्थ बन गई है। सूक्तियाँ का प्रयोग भी विशेष रूप से हुआ है। घोषणात्मक वाक्य वक्तव्य को प्रस्तुत करता है, किंतु जब वह चिंतन के क्षण से जुड़ा होता है नाटक में सूक्ति का जन्म होता है, जैसे - ''सभी विपरीत एक-दूसरे के बहुत निकट पड़ते है''[७४] अथवा ''किसी संबंध से बचने के लिए अभाव जितना पड़ा कारण होता है अभाव की पूर्ति उससे बड़ा कारण बन जाता है।''[७५]

संक्षेप में राकेश ऐसी भाषा लिखने में दक्ष हैं जिसमें अर्थ शब्दों के बीच से उभरता है। भावों को जगाने की अद्‌भुत क्षमता इस नाटक की भाषा में हैं। इसीलिए भाषा कहीं कहीं परिष्कृत होकर भी सहज संवेदनशील, जीवंत और प्रवाहमय हैं। भाषा में नाटकीयता व्याप्त रूप में है। मेघगर्जन और वर्षा का शब्द एक पूरा दृश्य बिंब बन चुका है जो नाटक में आद्यंत छाया हुआ है। सांकेतिकता, काव्यात्मकता, प्रतीक, बिंब, दृश्य आदि का प्रयोग हुआ है मगर उपकरण के रूप में नजर नहीं आता। अनेक भाषा रूप लिए हुए इस नाटक में कई आधुनिक संकेत है, अनेक व्यंग्य है, वर्तमान स्थितियाँ है। विडंबनाएं जो आज भी हमारे सामने प्रश्न बनकर उपस्थित है। इसमें विभिन्न प्रकार के पात्र हैं। इसकी भाषा स्वाभाविक एवं चुस्ती लिए हुए हैं। तत्कालीन परिस्थिति का पूरा का पूरा अनुभव इसकी भाषा में मिलता है।

३.३.२ लहरों के राजहंस

भाषा की दृष्टि से विकासक्रम की ओर दूसरा कदम लिए हुए राकेश का यह दूसरा नाटक है जिसमें रंगमंच की भी सार्थक तलाश है। साहित्यिकता मौजुद होते हुए भी नाट्यानुभूति से जन्मी इसकी भाषा हिंदी नाटक विधा के विकास की ओर एक और सार्थक कदम हैं।

जिस तरह 'आषाढ़ का एक दिन' की संस्कृतनिष्ठ भाषा को लेकर आपत्तियाँ उठाई गई, उसी तरह की आपत्तियाँ 'लहरों के राजहंस' के बारे में उठाई गई और हमने यह माना कि उस नाटक के वातावरण की पृष्ठभूमि तैयार करने के लिए वह भाषा आवश्यक थी, उसी तरह की 'लहरों के राजहंस' के बारे में भी स्वीकार करनी पड़ेगी। वैसे 'लहरों के राजहंस' में भाषायी स्तर पर यह बड़ी चुनौती रही होगी कि एक ओर बौध्दकाल की भाषा और दूसरी ओर वर्तमान काल के व्यक्ति की पूर्णत: बदली हुई भाषा का सामंजस्य कैसे किया जा सके ? नाटक का साहित्यिक होना उतना महत्वपूर्ण नहीं लगता जितना रंगमंच की सार्थक भाषा होना। राकेश ने बौध्दकाल का भ्रम बनाये रखने के लिए संस्कृत की तत्सम शब्दावली का आश्रय ग्रहण किया है जो वर्तमान जीवन की स्थिति को स्पष्ट करने के लिए शब्दों को आज की बोलचाल की लय में बाँधा।

इस नाटक के अंतिम निर्माण तक अनेक परिवर्तन हुए मगर इसका आधार ऐतिहासिक ही रहा लेकिन उतना ही जितना इस नाटक की व्याख्या में आता है। माना कि कथा का आधार 'अश्वघोष' का 'सौंदरनंद' है फिर नाटककार की कल्पना की प्रचुरता इसमें ज्यादा है, मगर अकृत्रिम भाषा के स्वरूप के कारण यह काल्पनिक क्रम लगता है। इसकी भाषा ही ऐसी है कि जिसके कारण नाटक को आज के समय में भी परिक्षेपित किया जा सकता है। इसका अंतिम रूप बनाने तक नाटककार कभी स्थिर नहीं रहा और नाटककार के स्वयं के शब्दों में - ''कोई भी रचना क्या ऐसी होती है कि व्यक्ति जीवन में कभी भी उसके रूप को निश्चित और अंतिम मान सके।''[७६]

प्राय: प्रसाद के बाद जो साहित्यिक भाषा वर्जित सी हो गई थी लेकिन उसमें अलंकारिकता का ज्यादा प्रभाव था। और राकेश ने जिस साहित्यिक और संस्कृतनिष्ठ भाषा का प्रयोग किया वह

पाठकों और दर्शकों को बोझिल नहीं बनी। उसमें यथार्थ था जो वर्तमान जीवन का अंग है। साहित्यिक और संस्कृतनिष्ठ भाषा नाटकों के लिए त्याज्य नहीं हो सकती और इसका प्रयोग करना मजे हुए नाटककार का ही काम हो सकता है और ऐसे क्षेत्र में सभी को सफलता नहीं मिलती। राकेश की यही विशेषता इस कारण बढ़ गयी कि उन्होंने साहित्यिक भाषा को रंगमंच की भाषा के निकट कर लिया है। संस्कृत शब्दों का प्रयोग नाटककार ने प्रवाहपूर्ण और प्रभावपूर्ण ढंग से किया है फिर भी कहीं कहीं शब्दों की बाधकता नजर आती है। जैसे - आपानक, आसव, अग्निकाष्ठ, आखेट, अभ्यंतर, आवर्त, विक्षुब्ध आदि। मगर ये शब्द न होते तो वह पृष्ठभूमि तैयार न होती जो इनके होने से हैं। दूसरी तरफ ही इन शब्दों के साथ रोजमर्रा के प्रचलित शब्दों का होना नाटक में स्वाभाविकता भर देता है। जैसे - एकतार जीवन, मेहंदी उतारना, चुंधिया, छितरा, छोड़-छोड़कर, सिहर, झपटकर, सहेज दिया, थकान आदि।

इसकी कथावस्तु तीन अंकों में विभाजित है। इसका आकार इतना ही है कि दर्शक सोचते-समझते रूचि के साथ देख जाता है। इसकी भाषा आरंभ से लेकर अंत तक कभी खंडित रूप में नजर नहीं आती। इसमें प्रस्तुत ऐसा द्वंद्व है जो अंतिम समय तक चलता है। शब्दों की इसमें वह पकड़ है जो हमें जकड़े रहती हैं। 'आषाढ़ का एक दिन' और 'लहरों के राजहंस' के अंतिम रूप को देखकर ऐसा लगता है कि राजेश त्रासदी के ऐसे कलाकार है जिसमें मनुष्य नियति के आगे मजबूर है, वह चाहता कुछ और है, होता कुछ और है। इस नाटक में स्त्री-पुरूष के संबंधों द्वारा आधुनिक मानव मन का द्वंद्व चरमसीमा लाँघता है।

तीन अंकों की प्रदर्शित घटनाएं सुंदरी के कक्ष में ही घटित होती हैं। आलोच्य नाटक प्रतीक बहुल नाटक है। यहाँ पर नाटककार ने घटना स्थिति, मनस्थिति के साथ या उससे पहले संकेतात्मक रूप में प्रतीक रूप प्रस्तुत किये हैं। प्रतीक रूप कृतिकार की सजग सतर्क भाषिक चेतना से निर्मित व्यवस्था लगती है। डा. एस. एन अय्यर के शब्दों में -''भाषा प्रतीक व्यवस्था के रूप में मानव के अनुभवगत संसार और उसकी अभिव्यक्ति तथा संप्रेषण पध्दति को रचनात्मक स्तर पर जोड़ती है।''[७७] नामकरण से लेकन चरित्रसृष्टि, कथा-अभिप्राय, दृश्यांकन, संवाद योजना और मूल संवेदनात्मक प्रतीकात्मक है।

नाटक का नामकरण (लहरों के राजहंस) नाटककार की प्रतीक व्यवस्था का उत्तम उदाहरण है जिसके शब्द अप्रतीम है। राजहंस नंद और सुंदरी, लहरे उनकी परिस्थितियाँ है। नाटक में पूरी तरह ये राजहंस नंद और सुंदरी पर छाया की तरह आद्यंत छाये हुए हैं। यहाँ नाटककार का शब्द कौशल्य महत्वपूर्ण बन जाता है।

नाटक की भाषा पात्रानुकूल है। जिस तरह संवादों को नाटक का प्राण कहा जाता है, उसी ही तरह नाटक में भाषा भी अपनी विशेष अर्थवत्ता रखती है। आलोच्य नाटक की भाषा पात्रों के द्वंद्व, उनकी मनस्थिति, विचार विमर्श को वहन करने की क्षमता रखती है। इसके कई एक पात्र प्रतीक व्यवस्था के अभिन्न अंग बन चुके है। 'नंद' एक ऐसा पात्र है जिसे अपना अस्तित्व कहीं नजर नहीं आता। वह पार्थिव (सुंदरी) और अपार्थिव (बुध्द) मूल्यों के बीच झूलता नजर आता है। उसको जो भाषा प्राप्त है, उसमें और श्यामांग की भाषा में अंतर नहीं है। वह नंद के मन की संकुलता को ही रेखांकित करता है। वह एक प्रतीक चरित्र है जो दुसरे अंक में सिर्फ स्वर के रूप मे सुनाई देता है। सुंदरी पृथ्वी के प्रतीक रूप में पुरूष और उसकी चेतना को अपने तक बाँधे रखना चाहती है। नंद, आकाश के प्रतीक रूप में, बँधना चाहकर भी उससे ऊपर उठना, एक अपार्थिक जिज्ञासा में अपने लिए उपलब्धि ढूँढना चाहता है। सुंदरी के व्यंजक कथनों, नंद के स्वगत कथनों और निरंतर सुंदरी के अनुकूल होती हुई भाषा अपने को सँवारती है। सुंदरी की भाषा तो आम भाषा नहीं लगती। नंद और सुंदरी दो भिन्न मनस्थिति वाले पात्रों की स्थिति-परिस्थिति को व्यक्त करती हुई यह भाषा हैं जिसमें व्यंग्यबोधक शैली है। इस नाटक के पात्रों की भाषा में एक अलग मादकता नजर आती है जैसे इसके ही सहारे पाठक या दर्शक भाषा की तरह-तरह की सीढ़ियाँ चढ़ता जाता है।

इसकी भाषा पात्रों के भावों के अनुरूप ढ़लती नजर आती है। उनकी आत्मपरक भाषा नजर आती है साथ ही उनके व्यक्तित्व की वाहिका भी है। नंद, सुंदरी, श्वेतांग, श्यामांग, अलका, आर्य मैत्रेय, भिक्षु आनंद आदि महत्वपूर्ण पात्र है जिनके कथनों की भाषा उनके व्यक्तित्व के रंगों को और भी चमका देती है। पात्रों की भाषा में कहीं-कहीं काव्यात्मकता भी है। जहाँ पात्रों का द्वंद्व गहरा

है वही भाषा में एक खिंचाव नजर आता है, जहाँ उनके भावों में गति है वही पर भाषा अपने में थिरकती हुई नजर आती है। वह 'रिदम' का रूप धारण कर लेती है। जहाँ एक ओर पात्रों का तनाव लिए हुए भाषा हमारे ऊपर बारीश की तरह बरसने लगती है वहाँ दूसरी ओर जहाँ पात्रों की मनस्थिति उलझी हुई लगती है वहाँ भाषा सामान्यत: कठिन, और भारी लगने लगती है। भाषा ऐसी है जो पात्रों में स्वयं ढ़लती नजर आती है -

"नारी का आकर्षण पुरूष को पुरूष बनाता है, तो उसका आकर्षण उसे गौतम बुध्द बना देता है।"[७८] सुंदरी रूपगर्व और अहंकार उसके शब्दों से ही झलकता है। यहाँ वह यह स्पष्ट करना चाहती है कि उसका आकर्षण नंद को बाँध सकने में समर्थ है। आगे जाकर सुंदरी अपना पूरा तनाव, पूरा खेद एक ही वाक्य में प्रकट करती है - "मुझे खेद है तो यही कि जितना समय इसे गीला रखना चाहिए था, उससे कहीं अधिक समय मैंने इसे गीला रखा।"[७९] नंद की थकान उसके शब्दों से भी छलकती है - "बिना घाव के अपने-आप ही क्लांति से मरे मृग को देखकर जाने कैसा लगा। उसी से अपने-आप इतना थका और टूटा हुआ लगने लगा कि...।"[८०] उसके अस्तित्व की यातना में भाषा निखर उठी है - "इतना समझ में आता है कि जिये जाने से जीवन धीरे-धीरे चुक जाता है। हर उन्मेष का परिणाम एक निमेष है और काल के विस्तार में निमेष और उन्मेष दोनों अस्थायी है। कि सुख सुख नहीं, काई पर फिसले पाँव का स्पंदन मात्र है, मात्र रेत में डूबती बूँद की अकुलाहट। परंतु वह स्पंदन, वह अकुलाहट ही क्या जीवन का पूरा अर्थ, जी लेने का कुल पुरस्कार नहीं है?"[८१] नंद का संघर्ष उसके अपने शब्दों में जारी है - "क्यों मैंने जान बूझकर आत्मविनाश को निमंत्रित किया, और फिर स्वयं ही आत्मरक्षा के लिए उस तरह लड़ गया? आत्मरक्षा और आत्म-विश्वास इन दो प्रवृत्तियों के बीच में एक साथ जिया - कैसे और क्यों ?... और क्या उस तरह जीकर सुख मिला ?"[८२] नंद के व्यक्तित्व को लेकर यही कहना होगा कि वह किसी का भी विश्वास ओढ़कर नहीं जी सकता। अंत तक उसका बिंदु खोजने दिखाने रहना नाटककार की शाब्दिक कला का अप्रतिम उदाहरण है।

दूसरे अंक में श्यामांग का स्वर केवल प्रतीक बन जाता है जो नंद के अंतर्मन को प्रकट करता है -

नेपथ्य (श्यामांग) : कहाँ हूँ मैं? क्यों हूँ यहाँ ... मेरा स्वर, पानी की लहरों का स्वर, सबकुछ एक आवर्त में घूम रहा है। .. एक चीत .. सब कुछ झपटकर किये जा रही है। इसेग रोके इसे रोको...।''[८३] गौतम बुध्द और देवी यशोधरा ये जो दोनों पात्र है, वह चाहे नाटक में अप्रत्यक्ष रूप से आये हो नाटक पर छाया की तरह आद्यंत छाये हुए है। भाषा का इसमें कमाल है कि वह इन दोनों पात्रों के अप्रत्यक्ष रूप को प्रत्यक्ष रूप की तरह आभास करा देती है। अन्य पात्रों में भिक्षु आनंद, अलका, श्वेतांग, आर्य मैत्रेय आदि की भाषा भी नाटक में प्रभावपूर्ण और अनिवार्य है। नाटक की भाषा नाटक में प्रभावपूर्ण और अनिवार्य है। नाटक की भाषा इनके सहारे नाटक के नाट्य-व्यापार को चलाती है।

नाटक की भाषा एवं संवाद वस्तु, परिवेश एवं पात्र के अनुकूल है। सुंदरी के संवादों की भाषा अपने अभिजात्य में बेजोड़ हैं। ''हमारे अंतरंग जीवन को लेकर इन्हें कुछ भी सोचने का अधिकार नहीं है।''[८४] तथा ''कामोत्सव कामना का उत्सव है, आर्य मैत्रेय ? मैं अपनी आज की कामना को कल के लिए क्यों टाल रखूँ।''[८५] कहीं कहीं बोझिल शब्दोंवाले संवाद भी गतिशीलता के कारण प्रभावपूर्ण बन चुके हैं। सुंदरी के संक्षिप्त चुटीले और व्यंग्य पूर्ण संवादों की भाषा हमको सोचने-विचारने पर मजबुर कर देती है। हमारे मानसिक स्थिबति को चैंलेज करती है। तीसरे अंक में सुंदरी की बौध्दिकता का शब्दावली झलकती है -

''लौटकर वे नहीं आये । जो आया है, वह व्यक्ति कोई दूसरा ही है।''[८६]

''आपसे अकेली क्या मैं इस समय भी नहीं हूँ।''[८७]

''बाहर और अंदर में अंतर है, देख रही हूँ।''[८८]

''कैसी वास्तविकता होगी वह जिसके संबंध में मैं बिल्कुल कुछ नहीं जानती।''[८९]

''कह दीजिए न ! बात पूरी नहीं कर पा रहे हैं?''[९०]

''कितने कितने बिंदु खोजे हैं आज तक तुमने । ... जाओ एक और बिंदु खोजो।''[९१]

इन संवादों को पृथक पृथक पंक्तियों में -

नाटक की सारी भाषा ही सुंदरी के इर्द-गिर्द घूमती नजर आती है। उसका सारा आवेश शब्दों में ही प्रकट होता है। श्यामांग के प्रति अत्याधिक क्रोध के फलस्वरूप वह उसे कठोरतम दंड देती है जिस में नपे-तुले संस्कृत शब्दों का समावेश है - ''नहीं तुम्हारा मन कहीं और नहीं था। तुम्हें आज सचमुच एक छाया ने घेर रखा है .... अब तुम्हें उस छाया से बचाने का उपाय यही है कि कुछ समयके लिए तुम्हें दक्षिण के अंधकूप में उतार दिया जाए।''[९२] नंद के संवादों में स्नेह एवं प्रणय की भाषा एकदम साकार हो उठी है। उसके छोटे-छोटे संवाद सुंदरी के लिए अगाध प्रेम और सुंदरी को प्रसन्न करने की इच्छा को अभिव्यक्त करते है। द्वितीय अंक में ऐसे संवाद भरे-पूरे मिलते है - नंद - ''तुम्हारी बात मैं कब नहीं मानता?''[९३] ''अच्दा अब नहीं करूँगा'', ''मैंने आपत्ति कहाँ की है?''[९४] ''क्यों नही भिगो लाऊँगा ? आपत्ति करूँगा तो ? .... अच्छा यहा भी नहीं कहूँगा।''[९५]

पहले और तीसरे अंक में संवादों में शब्दों का घात-प्रतिघात भी बहुत प्रभावपूर्ण बन पड़ा है। ''कितना मान होता मेरा .... कि जाकर कहने से कुछ लोग आते उनका मुझे इस घर में स्वागत करना पड़ता।''[९६] तथा ''मैं अव्यवस्थित नहीं हूँ। किसी का कोई भी षड़यंत्र मुझे अव्यवस्थित नहीं कर सकता।''[९७] नंद और भिक्षु आनंद का तीसरे अंक में घात-प्रतिघात का अत्यंत सशक्त वातावरण शब्दों में प्रस्तुत हुआ है -

नंद : ''भिक्षा-पात्र हाथ में न लेकर मैं अपना उत्तर उन्हें दे आया था।

भिक्षु आनंद : उत्तर दे नहीं आये थे, अब ते दे रहे हो।''[९८]

तथा

नंद : जाओ, भिक्षु । फिर से वही खेल खेलने के लिए तुम्हें नहीं रोकना चाहूँगा।

भिक्षु आनंद : मुझे रोकने का तो प्रश्न ही नहीं है, नंद । जिसे तुमने रोक रखा है, वह व्यक्ति कोई दूसरा ही है।''[९९]

सुंदरी और नंद के संवादों में भी यही देखने को मिलता है।

नंद : मुझसे भी अकेली - यही अर्थ है न तुम्हारा ?

सुंदरी : आपसे अकेली क्या मैं इस समय भी नहीं हूँ।''[१००]

राकेश का शब्द चयन अत्यंत सशक्त है। चुस्त शब्दों में अधिक अर्थ व्यंजित हुआ है जो नाटक की वातावरण की सृष्टि के लिए आवश्यक था। कामोत्सव, भावानक, नगर वधु, दीक्षा, विशेषक, आसव, कक्ष आदि शब्दों ने नाटक में जैसे उद्दीपक रूप में काम किया है।

'आषाढ़ का एक दिन' की तरह 'लहरों के राजहंस' में भी क्रिया और शब्द का गहरा संबंध देखने को मिलता है। मुद्रा और संवाद आपस में पिरोए हुए लगते हैं - श्यामांग के पत्तियों को तोड़ने - उलझाने की हरकत शब्द से अलग नहीं है। उसके व्यक्तित्व की उलझन से नाटक का संपूर्ण द्वंद्व ध्वनित होता है। नंद के हाथों से दर्पण का टूटना भी शारीरिक क्रिया और भाषा से जुड़ा हुआ है। भाषा में पात्रों के द्वंद्व और तनाव को प्रस्तुत करने की क्षमता ऐसी है जो एकदम सच्ची लगती है। अनेक नाटकीय स्थलों पर तो ''मौन'' का प्रयोग प्रभावपूर्ण हुआ है। कई बार ऐसा होता है कि अनकही बातें या ''मौनता'ब बहुत कुछ कह जाती है, जिसे कोई नहीं बोलता।''[१०१] इसी मौन में कितना अर्थ छिपा हुआ है, इसकी परिणति अंतिम अंक में होती है। अग्निकाष्ठ लेकर दीपक जलाने की श्यामांग की क्रिया भी अनकहे शब्दों में बहुत कुछ कह देती है। नाटक में ऐसी बहुत सारी क्रियाएं भरी पड़ी है जो शब्दों का भी काम कर जाती है। सुंदरी का मदिराकोष्ठ तक जाना, चषक में मदिरा डालना, मदिरा पीना आदि क्रियाएं शब्दों का काम करती है।

राजहंस के प्रतीक को पूरे नाटक में फैलाने की कोशिश की गई हैं। पहले ही इसकी चर्चा हुई हैं। प्रतीकात्मकता कथ्य की सांकेतिकता को विशिष्ट आयाम देने में समर्थ हुई है। सुंदरी प्रवृत्ति की प्रतीक है और नंद उसके प्रति आसक्त है। किंतु बुध्द के प्रभावस्वरूप सुंदरी के आकर्षण से नंद मुक्त होना चाहता है। उसने गृह-त्याग किया है। इस स्थिति की व्यंजना नाटककार ने राजहंसों का

अकस्मात कमल-ताल छोड़कर जाने में प्रतीकात्मक रूप में की है। इस प्रतीकात्मकता का स्पष्टीकरण सुंदरी के द्वारा नाटककार ने किया है। नंद के चले जाने पर अलग से कह उठती है -

"मैं अब भी नहीं सोच पा रही, यह हुआ कैसे .... राजहंस स्वयं उड़कर चले गये इसमें विश्वास नहीं होता .... क्या उनके पंखों में इतनी शक्ति रही होगी कि अपनी इच्छा से उड़कर कहीं चले जाते ? और जिस ताल में इतने दिनों से थे, उनका अभ्यास, उसका आकर्षण .. क्या इतनी आसानी से छूट सकता था।"[१०२]

प्रथम अंक में कामोत्सव का आयोजन और उसकी विफलता से नंद और सुंदरी की मानसिक अस्थिरता,श्यामांग को अंधकूप में भेजने का आदेश, श्यामांग का ज्वर प्रलाप और जल में परिकल्पित छाया और उससे उत्पन्न भय, सुंदरी के श्रृंगार में नंद का सेवक की भाँति दर्पण को पकड़ना और उसी वक्त दर्पण का टूटना, राजहंसों का उड़ जाना, नंद का बौध्द धर्म में दीक्षित होना, वन में व्याघ्र से घायल होकर लौटना आदि प्रतीक हैं और नाटक में इनका अनिवार्य रूप से मौजुद रहना ही नाटक की भाषा को सफल बनाना है।

मृग का प्रकरण नाटक में संकेत लिए हुए है। जीवित रहने के लिए संघर्ष करता हुआ अपनी ही क्लांति से मर जाता है। यह परिणति मृग की ही नहीं, किसी की भी हो सकती है। नंद की दृष्टि से उसकी भी। मृग का वर्णन नाटककार की नाट्यभाषा की प्रतिभा को रेखांकित करता है। "सच, मैं कभी सोचता नहीं था कि एक मरा हुआ मृग भी इतना सजीव लग सकता है। लग रहा था जैसे हाथ लगाते ही वह आशंका से काँप जाएगा और उठकर भाग खड़ा होगा।"[१०३] घायल मृग ऐसा बिंब है जो नाटकीयता की सृष्टि भी करता है और भाववस्तु का एक नया आयाम भी प्रस्तुत करता है। नंद के प्रवेश से ही उसकी अपनी क्लांति से थकान नजर आती है। व्याघ्र से युध्द, दर्पण का टूटना भी अर्थ में व्यक्त हुआ है।

राकेश ने शब्दों के सहारे ऐसे बिंब की योजना की है जो हर स्त्री-पुरूष के संबंध के जीवन की कहानी प्रस्तुत करते है। प्रस्तुत नाटक में दो दीपाधार - एक उँचा शिखर पर पुरूष मूर्ति - बाहें

फैली हुई तथा आकाश की ओर उठी हुई, दूसरा छोटा, शिखर पर नारी-मूर्ति- बाहें सिमटी हुई तथा आँखे धरती की ओर झुकी हुई।''[१०४] ये बिंब नाटक में आद्यंत छाया हुआ है।

सूक्तिप्रधान शैली इसमें भी नजर आती है - ''हर उन्मेष का परिणाम एक निमेष है। काल के विस्तार में दोनों अस्थायी है।''[१०५] 'आषाढ़ का एक दिन' की भाषा ज्यादा ध्वन्यात्मक, सांकेतिक है, क्योंकि इसमें आधुनिक संकेत है, व्यंग्य है, विडंबनाएं है, वर्तमान स्थितियाँ भी मौजुद है मगर 'लहरों के राजहंस' में विविध संकेत, व्यंग्य, प्रश्न कम है बल्कि नहीं के बराबर है। इसकी भाषा एक तरफ रोमांटिक वातावरण बनाती है तो दूसरी तरफ आधुनिक मानवमन के गहरे द्वंद्व को और गहराती है। 'आषाढ़ का एक दिन' भावना से भीगा हुआ नाटक है तो 'लहरों के राजहंस' द्वंद्व या संघर्ष से और उलझता हुआ नाटक है। इन दो नाटकों की भाषा में भी यही अंतर पाया जाता है।

इस नाटक में वह भाषा ही है जहाँ प्रेम के दो रूपों को प्रस्तुत करती है। प्रथम अंक में अलका और श्यामांग का प्रेम स्त्री-पुरूष के बीच भावना के दूसरे स्तर को व्यक्त करता है - जहाँ नंद और सुंदरी का आवेशपूर्ण और वासनात्मक प्रेम नहीं है। भाषा में कहीं भी औपचारिकता नहीं है।

जहाँ-जहाँ पात्रों का द्वंद्व गहरा होता जाता है वहाँ और दर्प की अनुभूति के क्षणों में सुंदरी भी प्रश्नवाचक वाक्यों में बोलती है।

''सुंदरी : लौट आये है ? नहीं । लौटकर वे नहीं आये । जो आया है, वह व्यक्ति कोई दूसरा ही है।

नंद : दूसरा ?... तो तुम भी कहती हो कि मैं कोई दूसरा व्यक्ति हूँ? केवल इसलिए कि किसी ने हट से मेरे केश काट दिये? मुझे पहले से थोड़ा अपरूप कर दिया है? क्या इतने से ही व्यक्ति एक से दुसरा हो जाता है?''[१०६]

अन्य वादों में - नंद : मुझेसे भी अकेली - यही अर्थ है न तुम्हारा ?

सुंदरी : आपसे अकेली क्या मैं इस समय भी नहीं हूँ?

नंद : इस समय भी तुम मुझसे अकेली हो ? तुम्हें सचमुच लग रहा है कि तुम मुझसे अकेली हो ?

सुंदरी : आपको नहीं लग रहा ?

नंद : मुझे क्या लग रहा है, यह तुम कैसे कह सकती हो ?

सुंदरी : नहीं कह सकती न ? व्यक्ति अकेला और किस तरह से होता है ?''[१०७]

विडंबना नाटक में नाटककार ने शब्दों के रूप में उतारी है। ''इससे क्या होता है ? सोने के लिए क्या और रातें नहीं आयेंगी।''[१०८] सचमुच नंद के जीवन में ऐसी कोई रात फिर नहीं दिखाई देती। कामोत्सव का विफल होना भी सुंदरी के जीवन की विडंबना है क्योंकि नियति के आगे वह विवश है।

लय का प्रयोग यहाँ यथार्थ को कुरेदने के लिए नाटककार ने किया है जहाँ शब्दों की भी आवृत्ति महत्त्वपूर्ण हो उठी है। 'बिंदु' शब्द का प्रयोग इसी अर्थ में हुआ है - सुंदरी नंद से कहती है - ''कितने - कितने बिंदु खोजे हैं आज तक तुमने । ... जाओ, एक और बिंदु खोजो । कितने-कितने शब्दों में ढॉपा है उन बिंदुओं को ? .... जाओ, कुछ और शब्द ढूँढ़ो। परंतु अंत में कहाँ रह जाते हैं तुम्हारे वे सब बिंदु ?''[१०९] बिंदु की तलाश में अंत तक नंद भटकता ही रह जाता है।

श्यामांग और श्वेतांग के वार्तालाप में शब्दों की आवृत्ति निखर गयी है -

श्यामांग : तो तुम ... तुम कभी नहीं सोचते ?

श्वेतांग : अब नहीं सोचता । पहले सोचा करता था ।

श्यामांग : पहले सोचा करते थे । .... और सोचने का परिणाम यह हुआ कि ... ?

श्वेतांग : सोचना छोड़ दिया। आदमी काम करना चाहे, तो उपाय यही है। एक राजकर्मचारी के लिए विशेष रूप से।

श्यामांग : तो तुम कहना चाहते हो कि ... मुझे भी सोचना कुछ नहीं चाहिए ? पर मैं कब सोचना चाहता हूँ ? ... बिना चाहे मस्तिष्क सोचता रहे, सोचता रहे, तो आदमी क्या कर सकता है?

श्वेतांग : बिना चाहे तो मस्तिष्क सोचता ही रहता है। न सोचने के लिए कैसा चाहना पड़ता है। प्रयत्न करना पड़ता है।''[११०]

नाटककार ने पात्रों को भाषा के सहारे उलझाया रखा है। उनका संघर्ष, द्वंद्व इसीमें प्रस्तुत हुआ है।

नाटक का अभिनेय होना भाषा के लिए सरल और प्रवाहमय होना है जिसे अनिवार्यता कहा जा सकता है - श्यामांग का कथन यहाँ प्रस्तुत है जिसमें भाषा ही सरलता का पर्याय बन जाती है।

''काम ? आपने कहा था न काम न करने के लिए। कमलताल के पास जो अँधेरा कोना है, कुछ देर के लिए वहाँ चला गया था। वहाँ देखा, ताल की लहरों पर वह छाया उतर रही है। लहरें उसमें गुम हुई जा रही है, कमलताल सब उसमें खोये जा रहे हैं। मुझे लगा कि वह छाया धीरे-धीरे उन सबको लील जाएगी, ताल में तैरते हुए राजहंसों के जोड़े को भी। मुझे ड़र लगा। मैं छाया पर पत्थर फेंकने लगा।''[१११] अलका को भी श्यामांग की तरह कुछ ऐसा ही होता है लेकिन वह स्वप्न में देखती है - ''सूखा सरोवर, पत्रहीन वृक्ष और धूल-भरा आकाश।''[११२] स्पष्ट है कि भाषा यहाँ लहरों पर तैरती हुई नजर आती है जो पात्रों के मनस्थिति के, मनोदशा के सूचक हैं। शब्दों का अभिनय ऐसा है कि कुछ घटनाएं हमारे सामने ही जैसे प्रदर्शित हो रही है।

कितने ही शब्दों का बार-बार आना नाटक में चमत्कारिता से ज्यादा गंभीर भाव पैदा कर देता है। भिक्षुणी, भिक्षु, कामोत्सव, पत्तियाँ, दूसरा व्यक्ति, नींद, छाया, कमल-ताल, अव्यवस्थित, विशेषक, अतिथि, उन्माद, दर्पण, कटोरी, दीक्षित, कक्ष बिंदु आदि। भाषा में स्वाभाविकता भी आ गई है, जैसे - 'घने वृक्षों की ओट में पड़ा हुआ मृग', 'हवा से डरे हुए कबूतर' आदि वाक्यों में सरलता ही छलकती है।

नेपथ्य में से जो समवेत स्वर सुनाई देता है - 'धम्मं शरणं गच्छामि' - यह स्वर ध्वनि के रूप में और सारे नाटक के पात्रों पर प्रभाव के रूप में आया है सिर्फ सुंदरी को छोड़कर। लेकिन अंत में वह भी मानती है उसके नंद पर भी बौध्द प्रभाव छाया हुआ है। पृष्ठभूमि में निरंतर चलता स्वर इसका प्रमाण है।

कुल मिलाकर इसकी भाषा के बारे में यही इसकी भाषा के बारे में यही कहा जा सकता है कि 'लहरों के राजहंस' की भाषा अकृत्रिम, साहित्यिक, रोमांटिक, पात्रानुकूल प्रेषणीयता लिए हुए है। इस नाटक की भाषा पात्रों और समयानुकूल होने के कारण अत्यंत प्रेक्षणीय बन गयी है। उनकी सारी मन:स्थिति और द्वंद्व शब्दों में इस तरह उभरते है कि पात्र शब्द बोलने की प्रतीक्षा में नजर नहीं आते बल्कि स्थितियाँ उन्हें अनायास बुलवाती है। यहाँ एक बात सूक्ष्म रूप में नजर आती है कि नाटक की कथावस्तु और पात्रों के अनुकूल ही भाषा में परिवर्तन किया है। यह समय की माँग भी होती है। राकेश इस कसौटी पर खरे उतरते है। गतिशीलता, नाटकीय चेतना, संघर्ष, द्वंद्व, बिंब योजना, प्रतीकात्मकता, रोमांटिकता आदि इस नाटक की भाषा की विशेषताएँ बन जाती है। सहजता के भीतर दंशपूर्ण संवादों की सृष्टि नाट्यभाषा की चरम वैशिष्ट्य है।

राकेश के दोनों नाटक 'आषाढ़ का एक दिन' और 'लहरों के राजहंस' में सांस्कृतिक अतीत का चित्रण हुआ है साथ ही पश्चिम की अस्तित्ववादी जीवनदृष्टि भी अंतर्व्याप्त है। 'आषाढ़ का एक दिन' में वर्तमान स्थिति के संकेत है, 'लहरों के राजहंस' में मानवमन का गहरा द्वंद्व है। इसी अंतर को स्पष्ट करते चले जाते हैं नाटककार मोहन राकेश। एक नाटककार का ऐतिहासिक संदर्भ को लेकर भी उसे वर्तमान स्थिति में रख देना आसान बात नहीं। राकेश में यह खूबी है और भाषा उसका सप्रमाण है। मोहन राकेश संस्कृत के अच्छे विद्वान है। उन्होंने अगर यह नाटक पूरे संस्कृत में लिखा होता तो शायद हम उसे पढ़ते भी नहीं क्योंकि आज के परिप्रेक्ष्य में संस्कृत शब्दावली का इतना महत्त्व नहीं है। हम आज की भाषा को चाहते है। राकेश ने बदलती परिस्थितियों के परिप्रेक्ष्य में भाषा का निर्माण किया है। उनकी प्रतिभाशक्ति इस कसौटी पर खरी उतरी है।

यह नाटक हिंदी नाटक के विधा के विकास में अगला चरण या सार्थक कदम साबित हुआ जिसका परिणाम 'आधे-अधूरे' का निर्माण हुआ।

३.३.३ आधे-अधूरे

मोहन राकेश का यह तीसरा नाटक है जो सन १९६९ में प्रकाशित हुआ। राकेश के अन्य नाटकों में यह नाटक 'मील का पत्थर' साबित हुआ। जिसका महत्वपूर्ण कारण इसकी भाषा है।

'आधे-अधूरे' में आज के भारतीय मध्यवर्गीय जीवन के सूक्ष्म जटिल अनुभवों, अनुभूत संवेदनाओं, बहुआयामी वैविध्यपूर्ण स्थितियाँ और जूझते टूटते आधे-अधूरे पात्रों की तनावपूर्ण विस्फोटक मन:स्थितियों की पूरी सच्चाई, उष्मा और विश्वसनीयता के साथ अपने समकालीन मुहावरे और बोलचाल की सृजनात्मक भाषा में पहली बार सफल नाटकीय अभिव्यक्ति मिली है। ''पहले दोनों नाटक की (आषाढ़ का एक दिन, लहरों के राजहंस) 'साहित्यिकता', 'रोमांटिक दृष्टि' , और 'भावुकता भरे लहजे' की सीमा इसमें नहीं है, क्योंकि इस नाटक का वातावरण पृष्ठभूमि तेवर एकदम ही बदला हुआ है। नाटककार सीधे यथार्थ से जुझ रहा है और भाषा भी उस यथार्थ को सीधे पकड़ रही है - 'बड़ी पैनी, तीखी, व्यंग्यभरी, अकृत्रिम, नाटकीय भाषा।''[११३] ऐतिहासिकता इसमें बिल्कुल नहीं है। फिर भी परिचित शब्दावली का भी सर्जनात्मक स्तर पर प्रयोग करना आसान बात नहीं होती। राकेश ने अधिकतर सामान्य शब्दों का चयन किया है मगर उन्हें ऐसे वाक्यों में पिरोया है जो उन्हें सामान्य रहने नहीं देता, असाधारण बना देता है।

'आधे-अधूरे' की कथावस्तु अंकों में विभाजित नहीं है। अंक केवल समय का अंतराल सूचित करते हैं मगर यहाँ राकेश ने 'अंतराल विकल्प' कहकर नाटक को दो रूपों में विभाजित किया है; इसके लिए प्रकाश का नाटकीय उपयोग किया है। ध्वनि के रूप में शब्द की अपनी शक्ति प्रयुक्त हुई है। तात्पर्य यह है कि मंच चेतना को भी राकेश ने 'आधे-अधूरे' में लाकर बदल दिया है। यह नाटक किसी पूरी कथा को दर्शित नहीं करता, बल्कि ''यह मौजुदा जीवन की विडंबना के कुछेक सघन बिंदुओं को रेखांकित करता है।''[११४] साठोत्तरी नाटकों के लिए नई दिशा देने का प्रथम प्रयास इस नाटक के निर्माण में हुआ है।

'आधे-अधूरे' की भाषा यथार्थ परिवेश से संबंध्द भाषा है। इसमें शब्दावली का भी प्रयोग किया है। किंतु उस अर्थ में नहीं जो 'आषाढ़ का एक दिन' और 'लहरों के राजहंस' में हुआ है। इस नाटक की भाषा वैसी हो भी नहीं सकती क्योंकि उन नाटकों की भाषा का जो परिवेश है वह एक अभिजात्य संदर्भ लिये हुए है। और 'आधे-अधूरे' में जो परिवेश उभरा है वह यथार्थ के निकट है। इसमें 'क्या होना चाहिए' का संदर्भ नहीं है बल्कि ''जो है वैसा ही जीना है।'' का संदर्भ लिए हुए है। संक्षेप में 'जीने की भाषा' का परिवेश उभरा है। भाषा तत्सम शब्दावली से युक्त होकर भी एक व्यावहारिक बोध की भाषा है। साथ ही उर्दू की लचक और नजाकत तो कहीं अंग्रेजी शब्दों का खुलकर प्रयोग भी नाटक की भाषा को प्रवाहशीलता और व्यावहारिकता से जोड़ता है। राकेश कितने ही शब्दों का बार-बार प्रयोग करते हैं लेकिन उन शब्दों से हर बार नए अर्थ निकलते हैं। शब्द समूह के विश्लेषण की दृष्टि से नाटक में संस्कृत के तत्सम और अंग्रेजी शब्दों की संख्या बराबर है। लगभग ८०-८० शब्दों का प्रयोग हुआ है जब कि उर्दू-फारसी के शब्द इससे अधिक है। विशेष बात भाषा के बारे में यह सामने आती है कि राकेशजी के पास अरबी फारसी और अंग्रेजी शब्दों की भी संपदा है जो पहले दो नाटकों में दिखाई नहीं देती। 'आधे-अधूरे' का यह परिवार एक पंजाबी परिवार है। सामान्यत: उर्दू भाषा के व्यवहार के आधिक्य के कारण ही यह कह सकते है। इन शब्दों का प्रयोग पात्रों और समयानुकूल किया गया है। जैसे गर्द, तकदीर, ख्वार, गायब, नाशुक्रे, लफ्ज, लिहाज, खुशादिल, गलत, शिकायत, अजनबी, गुबार, तमीज, हलाक, रूतबा, इज्जत, औजार, खयाल आदि। नाटक में अंग्रेजी शब्दों का प्रयोग इसीलिए हुआ है क्योंकि यह नाटक महानगरीय मध्यवर्गीय परिवार की जीवनगाथा है। महानगरों में अंग्रेजी शब्दों का प्रयोग ज्यादातर होता है और यह परिवार तो उच्च मध्यवर्गीय स्तर से ढ़हकर निम्न मध्यवर्गीय स्तर पर आया है और इसके सदस्य शिक्षित भी हैं। नाटककार का इन शब्दों का प्रयोग करना की स्वाभाविक बात है और समसामायिकता को दर्शाता है। नाटक के रंगमंच से लेकर पात्रों के वस्त्र परिधान में भी शब्दों की समसामायिकता झलकती है। टी शर्ट, काला कोट, टी शर्ट, सिगरेट, सोफा सेट, बैग, टी सेट, शेल्फ, टेबल, ट्रे, बस, मार्केट, फैक्टरी, टैक्सी, बिजी, स्कूटर, डैडी, ममा, ट्रान्सफर, कनॉट प्लेस, स्कूल, क्लास, मिस, फिट, क्लिप, टोस्ट, प्लेट, फाइल, शेव, फ्रेंचकट,

बुशशर्ट, केसोनोवा, स्टैम्प, एयर फ्रीज, मशीन, मिसेज, कॉलेज, रीडर्स डाइजेस्ट, कॉफी, इन्टरव्यू, अंकल, पैड, डिवीजन, आंटी, यूनियन, बैटरी, डाउन, चीफ कमिशनर, इन्टलेक्चुअल, स्लाईस, टिन-कटर, प्रोग्राम, सेंटर, क्रीम, लोशन, नाउ, डियर, प्लीज, ब्लड प्रेशर इत्यादि।

संस्कृत का विद्वान होने के कारण संस्कृत शब्दों का प्रयोग करने का मोह छोड़ नहीं सके। आकृति, अभिवादन, तटस्थता, असंभव, औद्योगिक,सांख्यि की आदि। भाषा यथार्थ है कहीं भी बनावटी नजर नहीं आती। शब्दों का चयन रोज घरों में प्रयुक्त की जानेवाली भाषा से लिया है जो स्वाभाविक बन गयी है। हिंदी के जीते-जागते प्रचलित वाक्यों और मुहावरों का प्रयोग हुआ है जैसे हवास का गुम होना, हवा बाँधे रखना, सिर फिर जाना, रासें कसना, हड्डियों में जंग लगना, मारा मारा फिरना आदि। बोलचाल के कुछ खास शब्द - जैसे - लड़की भी घर में रहकर ही 'बुढ़ा' जाती घरी रह जाती। झूठ-मूठ, घर-घुसरा, लिजलिजा, मिट्टी के लोंदे आदि।

पात्रानुकूल भाषा का प्रयोग 'आधे-अधूरे' में सर्वत्र हो गया है। पात्रों के 'प्रवेश' और 'प्रस्थान' रंग प्रभावों की दृष्टि से भली भाँति संयोजित है। यह पात्र अपनी पारिवारिक विघटन की गाथा को प्रस्तुत करते हैं। हर एक सदस्य एक-दूसरे से कटा हुआ है। व्यक्तियों के विभिन्नता के बावजूद मानवीय अनुभव की समानता का दिग्दर्शन इस नाटक की भाषा कराती है। हर पात्र के मन की दबी हुई चिनगारी कहीं रौद्र रूप धारण कर लेती है। इस आग का शमन अंत तक नहीं मिलता। सब अधूरे रह जाते है। इस चिनगारी को रंगमंचीय शब्दों में राकेश ने पिरोया है।

नाटककार नाटक लिखते हुए अपने ही पात्रों को विभिन्न भूमिकाएं प्रदान करता है। यहाँ नाटककार 'दूसरा व्यक्ति' बन जाता हैं और वह पात्रों के अनुरूप अपने पात्रों को अपने मन की भाषा देता है। 'आधे-अधूरे' नाटक जब रंगमंच पर अभिनीत होता है तो दर्शक के मन में यही आता है ''अरे कही मैं वही तो नहीं।'' पात्रों के वार्तालाप में कहीं भी संदिग्धता नजर नहीं आती बल्कि पात्र संप्रेषणियता पैदा करते है। महानगरीय मध्यवर्गीय जीवन की यह भाषा प्रश्नों का निर्माण करके रह जाती है। पात्रों की मनस्थिति को उभारने में भाषा बड़ी शक्ति के साथ पाठक के सामने से गुजरती है

यथा -

''अपनी जिंदगी चौपट करने का जिम्मेदार मैं हूँ। तुम्हारी जिंदगी चौपट करने का जिम्मेदार मैं हूँ। फिर भी मैं इस घर से चिपका हूँ क्योंकि अंदर से आराम मतलब हूँ, घरघुसरा हूँ, मेरी हड्डियों में जंग लग गया है।''[११५] या ''कैसे बताऊँ, क्या लगता है? वह जितने विश्वास के साथ यह बात कहता है, उससे... उससे मुझे अपने से एक अजीब सी चिढ़ होने लगती है। मन करता है ... मन करता है, आसपास की हर चीज को तोड़-फोड़ डालूँ। कुछ ऐसा कर डालूँ जिससे ...।''[११६] तथा अन्य उदाहरण में - ''ऐसे में मुझसे भी नहीं निभ सकता। जब और किसी को यहाँ दर्द नहीं किसी चीज का, तो अकेली मैं ही क्यों अपने को चीखती रहूँ रात-दिन?''[११७]

यहाँ स्पष्ट है कि भाषा में परिष्कृत की मात्रा उतनी नहीं जितनी कि संदर्भ, मन:स्थिति और परिस्थिति को सही ढंग से वाणी देने की है। इन उध्दरणों से कई बातें स्पष्ट हो जाती है कि भाषा में सतहीपन कहीं नजर नहीं आता बल्कि उसमें गंभीरता का भाव पैदा हुआ है। दर्दभरा आक्रोश इनमें कथनों से छलकता है। घरेलु भाषा का लहजा इसमें पूर्णरूप से समाया हुआ है।

'आधे-अधूरे' में राकेश ने ऐसी भाषा का निर्माण किया है जिससे अर्थ शब्दों के बीच से उभरता है। अर्थ की इस विवृत्ति में संवादों का शाब्दिक गठन महत्वपूर्ण हो जाता है। पात्रों के संवादों में अधूरापन है, फिर भी वे पूरा अर्थ देते हैं। भाषा संवादों के लिए ही लिखी जाती है। पात्रों के वार्तालाप में तो उनका पूरा व्यक्तित्व ही दिखाई देता है। शब्दों का गठन इसमें महत्वपूर्ण हैं -

''स्त्री : फिर भी तकदीर ने उसका साथ दिया, तुम्हारा साथ नहीं दिया ?

पुरूष एक : (गुस्से से उठता है) तुम तो ऐसी बात करती हो जैसे ?

स्त्री : खड़े क्यों हो गए ?

पुरूष एक : क्यों मैं खड़ा नहीं हो सकता ?

स्त्री : हो तो सकते हो पर घर के अंदर ही।''[११८]

संवादों की भाषा में खुलापन है। नाटक का आरंभ होने पर स्त्री का प्रवेश होते ही भाषा तेज, चलती, तीखी,बोलचाल का रूप धारण करती है और अंत तक भाषा का यही रूप नजर आता है।

पुरूष एक : आ गयी दफ्तर से ? लगता है आज बस जल्दी मिल गई ?

स्त्री : यह अच्छा है कि दफ्तर से आओ, तो घर पर कोई दिखे ही नहीं। कहाँ चले गए थे तुम?

पुरूष एक : कहीं -नहीं यही बाहर था मार्केट में।

स्त्री : (उसका पाजामा हाथ में लेकर) यह क्या तरीका है इस घर का ? रोज आने पर पचास चीजें यहाँ-वहाँ बिखरी मिलती है?

पुरूष एक : लाओ, मुझे दे दो।

स्त्री : (पाजामें को झाड़कर फिर से तहाती हुई) अब क्या दे दूँ। पहले खुद भी तो देख सकते थे।''[११९]

अथवा

स्त्री : यह खामखाह का ताना बाता क्यों बुन रहे है? जो असल बात कहना चाहते है, वहीं क्यों नहीं कहते ?

पुरूष चार : इतनी हि कि महेंद्र की जगह इनमें से कोई भी आदमी तुम्हारी जिंदगी में होता, तो साल-दो-साल बाद तुम यही महसूस करती कि तुमने गलत आदमी से शादी कर ली है।''[१२०]

इस नाटक की शुरूआत काले सूट वाले आदमी से होती है। इसके निर्माण सें यही बोध होता है कि - ''सड़क के फुटपाथ पर चढ़ते आप अचानक जिस आदमी से टकरा जाते हैं, वह आदमी मैं हूँ। आप सिर्फ घूमकर मुझे देख लेते है - इसके अलावा मुझसे कोई मतलब नहीं रखते।''[१२१] वस्तुत इसकी भाषा में परिष्कृति के साथ एक जाना - पहचाना वाक्य विन्यास मिलता है जिससे समसामायिकता झलकती हैं - ''बात इतनी ही है कि विभाजित होकर मैं किसी न किसी अंश में आप में से हर एक व्यक्ति हूँ और यही कारण है कि नाटक के बाहर हो या अंदर, मेरी कोई भी एक निश्चित नहीं है। या मैंने कहा था, यह नाटक भी मेरी तरह अनिश्चित है। उसका कारण भी यही है कि मैं इससे सहमत हूँ और

मेरे होने से ही सबकुछ उसमें निर्धारित या अनिर्धारित है। एक विशेष परिवार, उसकी विशेष परिस्थितियाँ।''[१२२]

वैसे साहित्यिक और परंपरा से चली आ रही भाषा नाटक के समस्त अर्थों और भाव-छवियों को बिंबित नहीं कर सकती। 'आधे अधूरे' में राकेश ने यथार्थ परिदृश्य को उभारने के लिए जो भाषा अपनायी है, वह परंपरा से अलग नई अर्थवत्ता से सजी हुई भाषा है। इसके शब्द कितने ही सरल क्यों न लगते हैं मगर इसकी व्यंजनाएँ अनगिनत है। एक बौध्दिक पाठक या दर्शक एक ही शब्द या वाक्यांश से कई व्यंजनाएँ निकाल सकता है। वैसे नाटक की भाषा परंपरा से अर्थ ग्रहण करके भी कई भूमिकाओं में प्रस्तुत हो सकती है। नाटक में भाषा एक ऐसा साधन बनकर आती है जिससे अभिनेता के मुँह का सत्य सबका सत्य बन जाता है।

भाषा दर्दभरी स्थिति और नई पीढ़ी की चिंतना को वाणी देने में समर्थ है। चरित्रों के मन में व्याप्त अभाव, असंतोष, विषाद, त्रास और विरोध व विद्रोह को उभारने की पूरी क्षमता इस नाटक की भाषा में है। छोटे-छोटे वाक्यों की भाषा तीखी है, इसमें इतनी व्यंजनात्मकता है कि नई पीढ़ी की टीस, संकट को सांकेतिक शैली में उभारा है -

बड़ी लड़की : ''खास कोई बात नहीं ...

स्त्री : ... तो ?

बड़ी लड़की : ... और सभी बातें खास है।

स्त्री : जैसे ?

बड़ी लड़की : जैसे .... सभी बातें ।

स्त्री : जब सब ठीक ही - ठीक है तो कोई बहुत ही खास वजह होनी चाहिए।

बड़ी लड़की : वजह सिर्फ वह हवा है जो हम दोनों के बीच से गुजरती है।''[१२३]

''स्त्री : तू ने जो बात कहीं है, वह अगर सच है तो उसके पीछे क्या कोई न कोई ऐसी अड़चन नहीं है जो ... ?

बड़ी लड़की : पर कौन सी अड़चन ? उसके हाथ में छलक गयी चाय की प्याली या उसके दफ्तर से लौटने में आधा घंटे की देर में छोटी-छोटी बाते अड़चन नहीं होती, मगर अड़चन बन जाती है। एक गुबार-सा है जो हर वक्त मेरे अंदर भरा रहता है और मैं इंतजार में रहती हूँ कि जैसे कब कोई बहाना मिले जिससे उसे बाहर निकाल लूँ।''[१२४]

बड़ी लड़की की भाषा में अजनबीयत भरी है, उसकी मनस्थिति भी ऐसी ही है। क्योंकि नाटक का संदर्भ ही ऐसा है। स्थिति ही ऐसी है। प्रत्येक शब्द और उसका प्रयोग कुछ ऐसे ढंग से हुआ है कि जो भाव पात्र के मन में छिपा हुआ है, वह एक क्षण में झटके के साथ अचानक ही पाठक के सामने से गुजर जाती है। और पाठक सोचते रह जाता है। वही झल्लाहट पैदा होती है - ''कुछ पता नहीं चलता यहाँ तो,''[१२५] ''वहा नया आना शुरू हुआ है आजकल।''[१२६], ''हर मंगल-सनीचर यही होता है सब।''[१२७], ''और कीड़ा चाहे जितनी हिंसा करता रहे।''[१२८], ''मैं ही शायद इस घर में सबसे ज्यादा नाकारा हूँ।''[१२९], ''तुझसे तो मैंने जाना है उसे, और तू कहती है तू कैसे ?''[१३०], 'धरी रह जाती है शैतानी आखिर।''[१३१]

कहीं कहीं वचन-वक्रता आ गयी है परंतु उससे भाषा की स्वाभाविकता पर कोई आँच नहीं आती - ''जुनेजा तो एक पूरा आदमी है अपने में। और वह खुद ? वह खुद एक पूरे आदमी का आधा चौथाई भी नहीं है।''[१३२]

एकल शब्दों की लाक्षणिकता पर भी संवाद की अर्थवत्ता निर्भर करती है। वह, इस, उस, कोई जैसे सामान्य सर्वनामों का भी 'आधू-अधूरे' में कुछ ऐसा ही अर्थपूर्ण प्रयोग हुआ है। कहीं-कहीं संवाद दीर्घ हुए हैं ज्यादातर अंतराल विकल्प के बाद, उनके विचार प्रकटन के लिए आवश्यक हैं। राकेश अनकहे शब्दों के लिए बिंदु चिन्हों का प्रयोग कर जाते हैं -

''बड़ी लड़की : और सोचकर जाना है कि ... ?

लड़का : एक खास चीज है इस घर के अंदर जो ... ।

बड़ी लड़की : तू भी यही कहता है?

लड़का : और कौन कहता है?

बड़ी लड़की : कोई भी ... पर कौन-सी चीज है वह ?''[१३३]

बिंदु चिन्हों के साथ राकेश ने प्रश्नवाचक वाक्यों का भी प्रयोग किया है। जिससे लगता है सभी पात्र एक-दूसरे से प्रश्न पूछते है, उत्तर किसी के पास नहीं है।

आलंकारिक भाषा का प्रयोग भी नाटक में हुआ है। जैसे 'दो आदमी जितना ज्यादा साथ रहें, एक हवा में साँस ले उतना ही ...।' 'देख नहीं रहीं यह लपलपाती जीभ, ये रिसती गुफाओं जैसी आँखें ये ...।' 'सख्त से सख्त बात को एक खामोश मुस्कुराहट के साथ क्यों पी जाता है।'

'मौन' या 'नि:शब्दता' राकेश की भाषा विशेषता है। उनके पात्र इस 'मौनता' को बखूबी निभाते है जिसमें क्रिया शब्द का काम करती है -

''स्त्री : जब और किसी को यहाँ दर्द नहीं किसी चीज का, तो अकेली मैं ही क्यों अपने को चीखती रहूँ रात दिन! मैं भी क्यों न सुर्बरू होकर बैठ रहूँ अपनी जगह? उससे तो तुममें से कोई छोटा नहीं होगा।

(लड़का चुप रहकर मेज की दराज खोल्ने बंद करने लगता है।)

: चुप क्यों हो अब ?

लड़का : (कुरसी पर बैठता) कुछ नहीं कहना है मुझे।

उड़ते मन से एक मैगजीन और एक कैंची दराज से निकालकर उसे जोर से बंद कर देता है।''[१३४]

इसके साथ राकेश ने एक अन्य संवाद में तोतली भाषा में सावित्री की तिरस्कृत भावना को ऐसे व्यक्त किया है। जिससे हम भी उसी भाषा को उसी रूप में आत्मसात करते हैं -

''कुछ नई तैना है तुझे । बैथ दा तुलछी पल औल तछीवलें ताता तितनी तछबीलें ताती ऐं अब तव लाजे मुन्ने ने ? अगर कुद नहीं कहना था तुझे,तो पहले ही क्यों नहीं अपनी जबान...?''[१३५]

तोतली भाषा में बोलते अचानक वही रूख रूखड़ भाषा में बदल जाता है। यह वाक्य इस बात का प्रमाण है कि निराडम्बर सत्य को अकृत्रिम रूखड़ भाषा में कहना मोहन राकेश को प्रिय है और ऐसा करना जरूरी इसीलिए हो जाता है कि वे व्यंग्य को प्राय: अपनी शैली का अनिवार्य अंग मानकर चलते है - पुरूष चार का कथन इसी ओर संकेत करता है - "कितना कुछ एक साथ होकर, कितना कुछ एक साथ पाकर और कितना कुछ एक साथ ओढ़कर जीना। वह उतना कुछ कभी तुम्हें किसी एक जगह न मिल पाता इसलिए जिस किसी के साथ भी जिंदगी शुरू करतीं, तुम हमेशा इतनी ही खाली, इतनी ही बैचेन रहती। वह आदमी भी इसी तरह तुम्हें कपड़े फाड़ता नजर आता...।"[१३६]

शारीरिक क्रिया और भाषा का गहरा संबंध 'आधे अधूरे' में दिखाई मिलता है। इन पात्रों की क्रियाएं, हरकतें भी शब्द बनती चली जाती है। सावित्री का आक्रोशभरा झुंझलाता व्यक्तित्व क्रियाओं में और निखर उठा है - "स्त्री : कब तक और ? साल पर साल ... इसका यह हो जाए ... उसका वह जो ए ! एक दिन - दूसरा दिन - दूसरा साल - अब भी और सोचूँ थोड़ा । कब तक.. क्यों।"[१३५] इन वाक्यों को पृथक - पृथक रूप में - स्वगत में ही सावित्री इन छोटे वाक्यों में अपनी जिंदगी कह डालती है और हरकतें उसका साथ देती है जैसे माला का टूटना, दूसरी माला को कबर्ड से निकालना, कबर्ड का ठीक से न बंद होना, फिर झटके से बंद करना, चप्पलों का ठीक न मिलना, क्रीम की शीशी हाथ में लेना, ध्यान बालों में अटक जाना, अपनी अधेड़ उम्र को आईने में देखना और सोचना कि घर दफ्तर... घर दफ्तर, - सोचो .. सोचो, चख्-चख्, किट-किट् शब्दों में उसकी उम्र ही छलकती है। जैसे अब और देर नहीं करनी है। कुछ मत सोचो। जिंदगी को ठिक तरह से न समझने के कारण उसकी यह हालत होती है। वह हँस भी नहीं पाती और ना ही रो पाती है। क्रिया यहाँ महत्वपूर्ण बन गई है - (साडी का पल्लू दाँतों में लिए सिर हिलाती हँसी और रूलाई के बीच के स्वर में) हहहहहहहह-ह:ह - हहहहह - ह: हह: हह: हह:।[१३८] राकेश की यहाँ एक ही शब्द की पुनरावृत्ति अन्य पात्रों की भी यही हालात होने की ओर सकेत करती है।

'आषाढ़ का एक दिन' की भाषा में तो ताजगी है चमक है वह 'आधे-अधूरे' में नहीं है। इसमें जो शब्दसंयोजन है वह भी गहरा है। चरित्रों की कड़वाहट इसमें दिखाई देती है। शब्दचयन बड़े गहरे अनुभव को व्यक्त करता हुआ समसामायिक जीवन का, परिवार का, परिवार के दंपति का सारा आक्रोश व्यक्त कर जाता है -

स्त्री : शुक्र नहीं मनाते कि इतना बड़ा आदमी, सिर्फ एक बार कहने भर से ...

पुरूष एक : मै शुक्र नहीं मनाता ? जब जब किसी नए आदमी का आना-जाना शुरू होता है यहाँ, मैं हमेशा शत्रु मनाता हूँ। पहले जगमोहन आया करता था, फिर मनोज आने लगा था...।

स्त्री : (स्थिर दृष्टि से उसे देखती हुई) और क्या क्या बात रह गई है कहने को बाकी? वह भी कह डालो जल्दी से।

पुरूष एक : क्यों ... जगमोहन का नाम मेरी जुबान पर आया नहीं कि तुम्हारे हवास गुम होने शुरू हुए।

स्त्री : (गहरी वितृष्णा के साथ) जितने नाशुक्रे आदमी तुम हो,उससे तो मन करता है कि आज ही मैं...।''[१३९]

स्त्री अपने पति के प्रति पहले से ही चली आ रही कडुवाहट, सारी वितृष्णा को 'नाशुके' शब्द में प्रकट करती है। इस शब्द में इतना अर्थ भरा हुआ है कि नाटककार का निर्देश उसके आगे फीका पड़ जाता है।

मैंगजीन, कैची, तस्वीरें, किट पिट - किट पिट , चख-चख, किट-किट, चीज, सैंडविच आदि शब्दों का प्रयोग एक उद्दीपक के रूप में हुआ है। परिवार का पूरा संदर्भ, स्थिति इन शब्दों से प्रकट होती है। दृश्य बिंब के रूप में 'चीज' का एक डब्बा हमारे सामने आता है। डब्बा खोलने के लिए टिन-कटर है मगर वह भोथरा हो चुका है और अशोक जब बाहर से खुलवा लाता है तो उसके अंदर की 'चीज' कोई नहीं खा पाता। तात्पर्य है कि कोई भी अपनी मनमानी पूरी नहीं कर पाता। नियति के आगे सब मजबूर है। राकेश ने इस बिंब का उपयोग कर के भाषा का और एक विशिष्ट आयाम प्रस्तुत किया है साथ ही नाटक को अर्थवत्ता प्रदान करता है।

'फाईल' शब्द का प्रयोग नाटक में परिवार की धूल भरी जिंदगी, उनकी आर्थिक स्थिति और महेंद्र की बेकारी को व्यक्त करता है। 'धूल' शब्द तो परिवार की आर्थिक स्थिति का द्योतक है, ''इतनी गर्द भरी रहती है हर वक्त इस घर में ! पता नहीं कहाँ से चली आती है !''[१४०] आदि ऐसे ही कितने ही शब्दों का प्रयोग नाटककार ने अर्थपूर्ण ढंग से किया है।

''छोटी लड़की : नहीं आऊँगी ... अंदर जाओ, तो बाल खींचे जाते हैं। बाहर आओ,तो किटपिट-किटपिट किटपिट और खाने को कोयला। अब उधर आकर इनके तमाचे और खाने हैं।''[१४१] वक्त का पागलपन इस लड़की पर सवार है।

वाक्यों में लयबध्दता 'आधे-अधूरे' की भी विशेषता बन गई है। इसके सभी वाक्य पूरे नाटक का संदर्भ देते है - ''सब-के सब .. सब- के - सब एक-से। बिल्कुल एक-से हैं आप लोग ? अलग-अलग मुखौटें, पर चेहरा ? ... चेहरा सबका एक ही ।''[१४२]

या

''पुरूष एक : हद होती है हर चीज की।

स्त्री : यहाँ बैठ । सच-सच बता, तुझे वहाँ किसी चीज की शिकायत है?

बड़ी लड़की : शिकायत किसी चीज की नहीं ...।

स्त्री : तो ?

बड़ी लड़की : और हर चीज की है।''[१४३]

कुल परिवेश का चित्र प्रस्तुत करनेवाली पात्रानुकूल, चित्रात्मक, आलंकारिक, भावानुकूल भाषा का प्रयोग हुआ है। रंगमंचीयता इसकी विशेषता है। राकेश के सभी नाटक रंगमंचीय है। 'आषाढ़ का एक दिन' में 'काव्यात्मकता' और 'साहित्यिकता' है। इसमें क्लासिकी युग का हल्का आभास है फिर भी बोलचाल के बहुत समीप है। 'लहरों के राजहंस' में 'काव्यात्मकता' और 'साहित्यिकता' से ज्यादा रोमानीपन है जिसमें आधुनिक मानवमन का अंतर्द्वद्व नीहित है। 'आधे अधूरे' में यथार्थ ज्यादा है। इसकी वाक्यावली संक्षिप्त और कसी हुई होने से सही जगह पर सही चोट

करती है। समकालीन जीवन के विविध आयामों को अभिव्यक्त करने के लिए जिस सशक्त भाषा की आवश्यकता थी, 'आधे अधूरे' की भाषा में उतनी ही सामर्थ्य एवं प्रेषणीयता के दर्शन होते है। पारिवारिक आर्थिक स्थिति का दर्शन देने में यह भाषा तो अपने में अलग ही है।

संक्षेप में यही कहना होगा कि राकेश के नाटकों की नाट्यभाषा हर वक्त बदली हुई हैं। समय के अनुसार भाषा का परिवर्तन होता है और वह अधिक सामर्थ्यशील होती है इसके प्रमाण उनके तीनों नाटक हैं। तीनों नाटकों की भाषा संदर्भ, समय, स्थिति और पात्रों के अनुरूप ढ़ली हुई हैं। सही भाषा का उत्तरोत्तर विकास तीनों नाटकों में क्रमशः हुआ है। सचमुच, मोहन राकेश के नाटक समकालीन नाटककारों के लिए प्रेरणा स्थल बन हुए।

संदर्भ सूची

१. गोविंद चातक : 'नाट्यभाषा' भूमिका

२. नेमिचंद्र जैन, 'आधुनिक हिंदी नाटक और रंगमंच, पृ.१२१

३. गोविंद चातक, 'नाट्यभाषा', भूमिका

४. वही,

५. एस.एन.अय्यर, 'नाट्यभाषा और काव्यभाषा का तुलनात्मक अध्ययन', 'भूमिका'

६. गोविंद चातक, 'नाट्यभाषा', पृ.९

७. वही, पृ. ९

८. वही, भूमिका

९. वही, पृ.९

१०. एस्.एन्.अय्यर, 'नाट्यभाषा और काव्यभाषा का तुलनात्मक अध्ययन, पृ.४८

११. वही, पृ. ४९

१२. जयदेव तनेजा, 'समसामायिक हिंदी नाटकों में चरित्रसृष्टि, पृ. ८८

१३. एस्.एन्.अय्यर, वही, पृ.४९

१४. गोविंद चातक, 'नाट्यभाषा', पृ. २४

१५. वही, पृ.३४

१६. वही, पृ.४२

१७. वही, पृ.४२

१८. वही, पृ.१०५

१९. गोविंद चातक, 'आधुनिक हिंदी नाटक', पृ.१३३

२०. वही, पृ. १३३

२१. पुष्पा बंसल, 'घिरते उड़ते मेंघ', पृ. २१

२२. गोविंद चातक, 'नाट्यभाषा', भूमिका

२३. एस. एन. अय्यर, 'काव्यभाषा और नाट्यभाषा का अध्ययन', पृ.५०

२४. मोहन राकेश, 'आषाढ़ का एक दिन', दो शब्द

२५. द्विजराम यादव, 'मोहन राकेश के नाटक', पृ.७४

२६. नेमिचंद्र जैन, 'आधुनिक हिंदी नाटक और रंगमंच', पृ.१२४

२७. वही,पृ.१४६

२८. 'आधे अधूरे' 'निर्देशक का वक्तव्य', 'ओम शिवपुरी'

२९. नेमिचंद्र जैन, 'सं.आधुनिक नाटक और रंगमंच'जगदीश शर्मा, पृ.१३४

३०. वही,पृ. १५४, गिरीश रस्तोगी, 'नाट्यभाषा'

३१. गोविंद चातक, 'नाट्यभाषा' ,पृ.११

३२. गिरीश रस्तोगी, 'राकेश की नाट्यभाषा', पृ.१५४

३२. मोहन राकेश, 'आषाढ़ का एक दिन', पृ.३

३३. गोविंद चातक, 'नाट्यभाषा', पृ. ३२

३४. मोहन राकेश, 'लहरों के राजहंस, पृ. ९

३५. गिरीश रस्तोगी, 'राकेश की नाट्यभाषा', पृ.१४६

३६. जयदेव तनेजा, 'समसामायिक नाटकों में चरित्रसृष्टि, पृ.४५

३७. सुषमा अग्रवाल, 'मोहन राकेश व्यक्तित्व और कृतित्व, पृ.९९

३८. मोहन राकेश, 'लहरों के राजहंस', भूमिका, पृ.८

३९. मोहन राकेश, 'आषाढ़ का एक दिन', पृ.१४

४०. वही, पृ.२१

४१. वही, पृ.१०

४२. वही, पृ.६०

४२. वही, पृ. ४०

४३. वही, पृ.६८

४४. वही, पृ. ६४

४५. वही, पृ.२९

४६. गिरीश रस्तोगी, 'राकेश की नाट्यभाषा', पृ. १४८

४७. मोहन राकेश, 'आषाढ़ का एक दिन', पृ.९९

४८. गिरीश रस्तोगी, 'हिंदी नाटक सिध्दांत और विवेचन, पृ. ३२१

४९. मोहन राकेश, 'आषाढ़ का एक दिन, पृ.१४

५०. वही, पृ.२६

५१. वही, पृ.२१

५२. वही, पृ. ४४

५३. वही, पृ. १११

५४. गिरीश रस्तोगी, 'राकेश की नाट्यभाषा', पृ. १४७

५५. मोहन राकेश, 'आषाढ़ का एक दिन', पृ. ४

५६. वही, पृ. ६

५८. वही, पृ.२७

५९. वही, पृ.३४

६०. वही, पृ. २

६१. वही, पृ.१८

६२. वही, पृ.४

६३. वही, पृ.७५

६४. वही, पृ.१०

६५. वही, पृ.८

६६. वही, पृ.७५

६७. वही, पृ. ७८

६८. वही, पृ.९९

६९. वही, पृ.४२

७०. वही, पृ.२९

७१. वही, पृ.२६

७२. वही, पृ.१०५

७३. वही, पृ.३६

७४. वही, पृ.२१

७५. मोहन राकेश, 'लहरों के राजहंस', 'भूमिका', पृ.३८

७६. एस. एन. अय्यर, 'काव्यभाषा और नाट्यभाषा का तुलनात्मक अध्ययन, पृ.२

७७. मोहन राकेश, 'लहरों के राजहंस', पृ.५०,

७८. वही, पृ. १००

७९. वही, पृ. ६१

८०. वही, पृ. ११२,

८१. वही, पृ. १११

८२. वही, पृ. ७८

८३. वही, पृ. ७७

८४. वही, पृ. ७०

८५. वही, पृ. ११६

८६. वही, पृ. ११७

८७. वही, पृ. ११८

८८. वही, पृ. ११८

८९. वही, पृ. ११९

९०. वही, पृ.१२३

९१. वही, पृ. ५५

९२. वही, पृ. ८१

९३. वही, पृ.८३

९४. वही, पृ.८४

९५. वही, पृ.६९

९६. वही, पृ.७१

९७. वही, पृ. १०८

९८. वही, पृ.१०९

९९. वही, पृ. ११७

१००. वही, पृ. ९२

१०१. वही, पृ. ९८

१०२. वही, पृ. ६१

१०३. वही, पृ. ४१

१०४. वही, पृ. १११

१०५. वही, पृ. ११६

१०६. वही, पृ. ११७

१०७. वही, पृ. ७९

१०८. वही, पृ. १२३

१०९. वही, पृ. ४४

११०. वही, पृ. ५३

१११. वही, पृ. ४८

११२. गिरीश रस्तोगी, 'राकेश की नाट्यभाषा', पृ. १४९

११३. 'आधे अधूरे', निदेशक का वक्तव्य, ओम शिवपुरी, पृ. ५

११४. वही, पृ. ३९

११५. वही, पृ. २९

११६. वही, पृ. ५३

११७. वही, पृ.१८

११८. वही,पृ.१४

११९. वही, पृ.८९

१२०. वही, पृ. ११

१२१. वही, पृ. १२

१२२. वही, पृ. २६

१२३. वही, पृ. २७

१२४. वही, पृ. ३१

१२५. वही, पृ. ३३

१२६. वही, पृ. ३९

१२७. वही, पृ. ४९

१२८. वही, पृ.५५

१२९. वही, पृ. ६९

१३०. वही, पृ. ७१

१३१. वही, पृ. ८४

१३२. वही, पृ. ५९

१३३. वही, पृ.२७

१३४. वही,पृ. ५४

१३५. वही, पृ. ८९

१३६. वही,पृ. ६६

१३७. वही, पृ. ८९

१३८. वही, पृ.२०

१३९. वही, पृ. १७

१४०. वही, पृ. ४०

१४१. वही,पृ. ९३

१४२. वही, पृ.२३